शैवज्ञान मीमांसा

भाग ३

Shaivgyan Mimansa-3
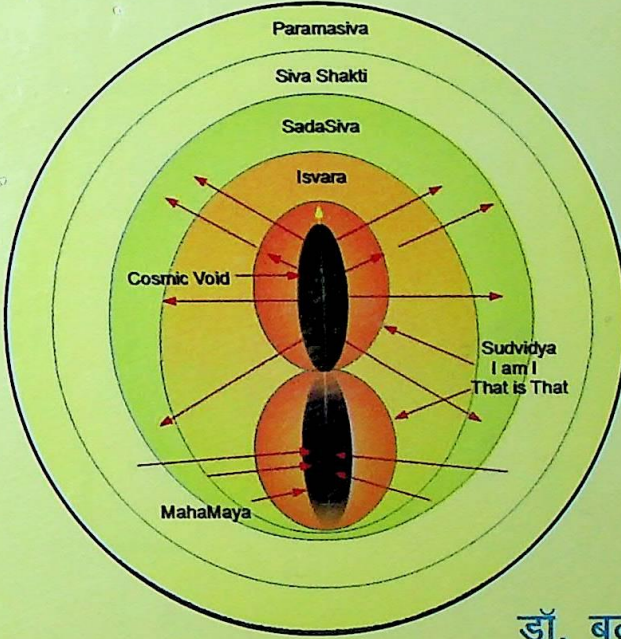
डॉ. बलदेव चन्द

संस्कृत शोध सस्थान, जम्मू

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्; जम्मू

द्वारा संचालित

मुख्य कार्यालयः ४२/११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४१६२२१७३५

E-mail : ssshodh@gmail.com, jksanskritsociety@gmail.com

शैवज्ञान मीमांसा भाग ३

।। श्री।।

संस्कृत शोध संस्थान, ग्रन्थमाला १०

शैवज्ञान मीमांसा

भाग- ३

डॉ. बलदेव चन्द शास्त्री

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

प्रकाशक : संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

मुद्रक : शिवा प्रिंटर्स, पलोड़ा, जम्मू

संस्करण : प्रथम, विक्रम सम्वत् 2068, सन् 2013

प्रतियाँ : 500

ISBN : 978-81-928321-8-0

मूल्यः 210/-

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू
द्वारा संचालित

मुख्य कार्यालयः ४२/ ११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०९४१९१४७०७३, ०९४१९२२१७३५

E-mail : ssshodh@gmail.com, jksanskritparishad@gmail.com

शैवज्ञान मीमांसा भाग ३

।। श्री ।।

संस्कृत शोध संस्थान, ग्रन्थमाला १०

शैवज्ञान मीमांसा

भाग- 3

डॉ. बलदेव चन्द शास्त्री

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू

द्वारा संचालित

मुख्य कार्यालयः ४२/ ११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४१६२२१७३५

E-mail : ssshodh@gmail.com, jksanskritparishad@gmail.com

भूमिका

शैव दर्शन की दृष्टि में जा कुछ भी जगत में है, स्वयं परमेश्वर ही है। नहीं होना, अर्थात् अभाव भी परमेश्वर ही है। एक मिट्टी का ढेला भी परमेश्वर ही है। ठीक उसी तरह से और उतनी ही परिपूर्णता से परमेश्वर है, जिस तरह से और जितनी मात्रा में शुद्ध अपरिमित और परिपूर्ण संवित परमेश्वर है। सब कुछ सत्य है और पूर्ण परमशिव है। विद्या भी परमशिव है और अविद्या भी। सावधान साधकों को सर्वत्र परमशिव भाव की अनुभूति हुआ करती है। इस सुविशाल और सर्वव्यापक परमेश्वरता की दृष्टि को ही शैव दर्शन के आचार्यों ने पराद्वैत दर्शन कहा है।

शैवदर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान का तात्पर्य यहाँ ज्ञान के अभाव से न होकर उस परिमित ज्ञान से है जो सांसारिक जीवों में होता है। सांसारिक जीवों के ऐसे ही परिमित विषय-ज्ञान को शिवसूत्रों में बन्धन रूप कहा गया है। शैवशास्त्रों में इस अज्ञान की परिभाषिक संज्ञा मल है। इस मल का कारण परमशिव का स्वातंत्र्य है, जिससे वह अपने आप में अवरोहण और आरोहण की कल्पना करता है। अवरोहण की कल्पना उसकी स्वात्म-प्रच्छादन की इच्छारूप क्रीड़ा है। परमेश्वर की इस स्वात्म-प्रच्छादन या स्वरूपगोपन की इच्छारूप क्रीड़ा को ही काश्मीर शैव दर्शन में आणव मल का कारण बताया गया है। यह आणवमल वस्तुसत्य न होकर अवरोहण-लीला के लिये परमेश्वर के द्वारा अपने स्वातंत्र्य से की गई मल की कल्पना मात्र है। किन्तु अपने स्वातंत्र्य-स्वभाव की लीलावश जीवभाव परिगृहीत शिव जब स्वरूप-गोपन की अपनी स्वतन्त्र इच्छा से स्वपरिगृहीत पारिमित्य को यथार्थतः अपना पारिमित्य समझ लेता है तब पारिमित्य को यथार्थ प्रतीति ही उसका बन्धन बन जाती है। और वह अपने संवित्स्वरूप के अज्ञानवश संकुचित ज्ञातृ-कर्तृत्व अणु बन जाता है। इस प्रकार उसके सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व स्वरूप के संकुचित हो जाने पर प्राण, बुद्धि आदि वेद्यरूपों में अहन्ता अभिमान दृढ़ करके वह अपने आपको संकुचित प्रमाता समझते हुए परमार्थतः चिन्मय वेद्यों को भी अपने सर्वथा भिन्न अचिन्मय समझने लगता है। अज्ञान को इस दर्शन में ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता यहाँ ज्ञान के संकोच को अज्ञान कहा जाता है। इस "अज्ञान" शब्द में "न" निषेधार्थक न होकर अल्पार्थक ही होता है। आत्मदेव वस्तुतः अपरिमित और शुद्ध प्रकाश है, परन्तु ज्ञान संकोच के कारण जीव दशा में परिमित और जड़ वस्तु को अर्थात् शरीर आदि को ही अपना आप समझ बैठता है। आत्मदेव की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों ही वस्तुतः असीम होती

हैं, परन्तु माया के प्रभाव से अभिव्यक्त हुए जीवभाव में वह अपने को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् न समझता हुआ अल्पज्ञ और अल्पशक्ति ही समझ बैठता है। इस तरह से इसके अपने स्वरूप और अपने स्वभाव के ज्ञान में अतीव संकोच का अवभाव होता है। यही इसका अज्ञान है। इस अज्ञान के दो आश्रय होते हैं। जिनसे यह दो प्रकार का हो जाता है। एक आश्रय तो स्वयं पुरुष या जीव ही होता है। वही आणव आदि मलों का पात्र बना रहता है। यह मल ही उसका अज्ञान होता है। अज्ञान का दूसरा आश्रय होता है पुरुष की बुद्धि। पौरुष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि भी ज्ञान संकोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही समझती रहती है और तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों की कल्पना करती रहती है।

गुरु के उपदेश से और शास्त्रों के अभ्यास से जीव की बुद्धि का अज्ञान दूर हो जाता है तो वह बुद्धि के स्तर पर समझ लेता है कि मैं असीम और परिपूर्ण तथा शुद्ध संवित् ही हूँ। परन्तु तथा स्वभाव से ही सर्वज्ञ तथा सर्वशाक्तिमान परमेश्वर हूँ। परन्तु मूल अज्ञान के स्थिर रहते हुए यह बौद्ध ज्ञान निष्फल होता रहता है। मानव का सारा व्यवहार मूल अज्ञान के आधार पर ही चलता रहता है। बौद्ध ज्ञान केवल कहने-सुनने, समझने-समझाने, लिखने-लिखाने, पढ़ने-पढ़ाने आदि में ही काम आता है। उस पौरुष अज्ञान का नाश पौरुष ज्ञान से ही होता है। पौरुष ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक मलों को धोया न जाए। मल केवल गुरु कृपा से ही धुले जा सकते हैं। अतः गुरु जिस समय यथावत् दीक्षा के द्वारा शिष्य को अनुगृहीत करता है, उसी समय शिष्य के पौरुष मल शिथिल होने लग जाते हैं और गुरु द्वारा सिखाए हुए रहस्यमय उपायों के अभ्यास से धीरे-धीरे पूरी तरह से धुल जाते हैं। ऐसा हो जाने पर ही बौद्ध ज्ञान भी यथार्थ रूप में ज्ञान बन जाता है।

माया के तिरोधानकारी प्रभाव से स्वरूपविपर्यास हो जाने पर शिव अपने शिवभाव के अपरिज्ञान से परमेश्वर की मलकल्पना अर्थात् बन्धन की कल्पना को यथार्थ समझ लेता है और कल्पित बन्धन को यथार्थ बन्धन समझकर वह संकुचित प्रमाता सुख दुःखादि भोगों में संसरित होने लगता है। सद्गुरु के अनुग्रह ादि के अभ्यास से जब उसे अपने परिपूर्ण स्वांतत्र्य स्वभाव का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तब वह कल्पित बद्धता के अभिमान से छूटकर अपने जिस पूर्णाहन्ता के चमत्कार (संवेदन) में प्ररूढ़ होता है वही पूर्व अवस्था के विचार से मोक्ष कहा जाता है।

विनीत

डॉ. बलदेव चन्द

विषयानुक्रमणिका

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

श्री

शैवज्ञान मीमांसा

भाग 3

प्रथम अध्याय

शैवाद्वैत चिन्तन में जीव और माया

संसार की समस्त कृतियों में मनुष्य एक सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस विषय में कोई भी मतभेद नहीं है, न था व न होगा। चाहे अनपढ़ अज्ञानी, मूर्ख बुद्धि मुनष्य हो या सुसंस्कृत, सुसभ्य, सुपठित, महान् ज्ञानी सभी इस 'मानव' शरीर को एक विशेष रचना ही स्वीकार करते हैं।

विश्व की सभी प्राचीन व अर्वाचीन सभी संभ्यताओं ने मानव की इस विशेषता, लोकोत्तरता व महानता के गुणगान अपने- अपने ढंग से, अपनी- अपनी भाषा से अपनी- अपनी शैली, तर्क दृष्टिकोण, सम्प्रदाय इत्यादि के माध्यम से सुदूर प्राचीन मानवता के प्रारम्भ काल, उषाकाल में भी किए थे तथा तभी से लेकर प्रत्येक काल में(वर्तमान, भविष्य) उक्त गुणगान को करते ही चले आ रही हैं।

मानव जीवन की एकमत से श्रेष्ठता स्वीकार करने के साथ ही साथ उसके अस्तित्व, स्वरूप, प्रयोजन, आवश्यकता, उपयोगिता इत्यादि के विषय में भी विश्व के पुरोधा, विचारक, गवेषक, वैज्ञानिक, योगी, चिन्तक, सिद्ध व साधक आदिजन सदैव जिज्ञासु बनकर मानव के वास्तविक स्वरूप के विषय में नवीन-नवीन आविष्कार भी करते चले आ रहे हैं। विश्व में प्राप्त सभी साहित्य मनुष्य जीवन के विषय में विचारकों की खोजों के विषय में अनेक प्रकार की जानकारी व ज्ञान मानवता को प्रदान करता चला आ रहा है।

मानवता की यह खोज या जिज्ञासा न केवल वर्तमान, अपितु भूत व भविष्य की भी एक अत्यन्त न टाली जा सकने वाली वस्तु है। यही

कारण है कि इस विषय पर अनादिकाल से या सृष्टि के प्रारम्भ से ही गहन चिन्तन विश्व के साहित्य में उपलब्ध होता है तथा आज भी इस विषय पर अनेक विचारक कार्य कर रहे हैं तथा भविष्य में भी करते रहेंगे, यही स्थिति निर्बाधरूप से अवस्थित दृष्टिगोचर होती है।

भूत व वर्तमान का विहंगम दृष्टि से अवलोकन व समीक्षण करने पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि मानव जीवन मुख्यरूप से दो क्षेत्रों में ही विभाजित होकर प्रत्येक काल (भूत व वर्तमान) में भी स्थित रहता है तथा यही लक्षण भावी द्विविधता का भी कथन तात्पर्यार्थ रूप से कर देता है। अतः त्रिकाल (भूत-भविष्य-वर्तमान) में मानव जीवन की धारा दो भागों, क्षेत्रों, दृष्टिकोणों वृत्तियों इत्यादि को लेकर ही प्रचलित होती रही हैं। इसे सकारात्मक व नकारात्मक विचारधाराओं के रूप में भी विश्व विचारकों ने परिभाषित व विभाजित किया है।

विश्व के सम्पत्ति उपलब्ध सर्वप्राचीनतम साहित्य से लेकर, वेदादि से सर्वाधुनिकतम पाश्चात्य साहित्य के नवीनतम सिद्धान्तों, वादों व पर्यालोचनाओं पर्यन्त सही उक्त सकारात्मक व नकारात्मक मानवजीवन के पक्षों का ही विविध वर्णन उपलब्ध होता है। जहाँ प्राचीनतम साहित्य मानवजीवन के इन द्विविध पक्षों को देवासुरसंग्राम आदि कहकर परिभाषित करता है, वहीं अर्वाचीन साहित्य रचनात्मक व विध्वंसुरसंग्राम व विध्वंसात्मक, भला व बुरा उन्नति व अवनति इत्यादि कहकर इसे (मानवजीवन को) परिभाषित करता है, निष्कर्ष वही निकलता है कि मानवजीवन अपनी इन दोनों सहजप्रवृत्तियों से इस प्रकार से ओतप्रोत व सुग्रथित है कि इनकी कल्पना या वर्णन के बिना इम मानवजीवन को ही परिभाषित नहीं कर सकते। यही कारण व वास्तविकता भी रही है कि सभी प्राचीनतम भारतीय वैदिक व अवैदिक सभी दार्शनिकों, विचारकों चिन्तकों तथा मनोवैज्ञानिकों ने मानव जीवन को द्वन्द्व की दार्शनिक परिभाषिक शब्दावली भी प्रदान की है। फलतः मानव जीवन का निर्गलितार्थ निकलता है द्वन्द्व। ऊपर शब्दों में द्वन्द्व (दो वस्तुएं) ही मानवजीवन का मूल स्वरूप या अस्तित्व कहा जा सकता है।

अतः जब तक मानव जीवन का अस्तित्व इस पृथ्वी पर विद्यमान है, था व रहेगा तब तक उसके 'द्वन्द्वात्मक' स्वरूप की न बदलने वाली सत्ता भी सतत विद्यमान रहेगी।

इस द्वन्द्वात्मक निष्कर्ष पर पहुँचकर विश्व के सभी विचारक या विश्व की सभी विचाधाराएं, चिन्तन व दृष्टिकोण एक महत्त्वपूर्ण सम्मिलन बिन्दु पर सम्मिलित हो जाते हैं कि जहाँ से अनेक प्रकर की पथधाराएं विभिन्न दिग्-दिगन्तरों में प्रवाहित होती हैं, यही पथधाराएं अनेक प्रकार के वादों को भी जन्म देने का कारण भी कालान्तरे में या तत्तत्काल में बनती जाती हैं। उदाहरण स्वरूप, भौतिकवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, विकासवाद, धर्मनिरपेक्षवाद, सर्वहारावाद, इत्यादि आधुनिक द्वन्द्ववाद की परिणतियाँ हैं। तथा इसी प्रकार अद्वैतवाद, निर्गुणवाद, सगुणवाद द्वैतवाद विशिष्टद्वैतवाद, इत्यादि प्राचीन द्वन्द्ववाद की परिणतियाँ रही हैं। अतः मानव जीवन द्वन्द्वात्मक रूप में एक ऐसा केन्द्र बिन्दु सिद्ध होता है कि जिसके गर्भ से चर्तुदक् विभिन्न दृष्टिकोणों का आविर्भाव व तिरोभाव कालक्रम से होता रहता है, रहता था व रहेगा।

उक्त द्वन्द्व की प्राचीनतम व्याख्या विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदशास्त्रादि में तथा विशेषकर काश्मीर शैवागम में किस रूप में उपलब्ध होती है, यही इस शोध प्रबन्ध का विषय है और तदनुसार ही यथा सीमित रूप से उसकी विवेचना यहां की गई है।

मानव जीवन के द्वन्द्वात्मक स्वरूप के विषय पर जब विचारकों ने गहन चिन्तन प्रस्तुत किया तो उन्होंने अपने निष्कषों को दो पारिभाषिक शब्दों के द्वारा ही वेदादि शास्त्रों में विभाजित करके विस्तृत व्याख्यान व विवेचन प्रस्तुत किया। ये वेदादि शास्त्र प्रतिपादित मानवजीवन के द्वन्द्वात्मक स्वरूप के दिशानिर्धारक नियमक पारिभाषिक शब्द "ज्ञान" व "अज्ञान" ही विचारकों व गवेषकों द्वारा कहे गए हैं। अर्थात् मानवजीवन का सततोन्नतिमुखी पक्ष 'ज्ञान' व मानवजीवन का सततावनतिमुखी पक्ष 'अज्ञान' होता है। अतः मानवजीवन में ये दोनों प्रवृत्तियाँ अपना पूर्ण प्रभुत्व व वर्चस्व भी रखती हैं। सभी विश्व के विचारक इस विषय पर एकमत हैं कि 'ज्ञान' के द्वारा मानवजीवन उन्नत तथा अज्ञान के द्वारा वह

अवनत होता है। इस मूल आधारशिला की भित्ति पर ही कालान्तर में पर्याप्त अनुसन्धान किया गया और इसका सर्वस्व व प्रभाव इसी से सिद्ध हो जाता है कि सैकड़ों शताब्दियों पूर्व किए गए विचारों के निष्कर्ष आज वर्तमान में भी उतने ही प्रासंगिकि व समसामयिक हैं जितने कि उस युग में रहे थे। क्या आज की मानव सभ्यता के सम्मुख भी मानवजीवन के विषय में अनेक प्रश्न उसी प्रकार उसी प्रकार उपस्थित नहीं है कि जिस प्रकार उसी प्रकार उपस्थित नहीं है कि जिस प्रकार उस सुदूर प्राचीनतम युग में उपस्थित थे? जैसे- मानव का मूल या जीवन का मूल स्वरूप क्या है? मानव का मूल या जीवन का मूल मानव जीवन क्या है? मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति का मूल स्वरूप क्या है? मानवजीवन की दिशा व लक्ष्य क्या है? मानवजीवन के पतन के मार्ग या परिस्थतिथाँ क्या हैं? इत्यादि।

अतः मानव जीवन का जितना सम्बन्ध 'ज्ञान' या 'सकारात्मक पक्ष' से है उतनी या उससे भी कुछ अधिक अज्ञान या 'नकारात्मक पक्ष' से भी है। कारण यही है कि 'अज्ञान' या 'नकारात्मकपक्ष' का सम्यक् ज्ञान हो जाने के पश्चात् स्वतः ही मानवजीवन का सकारात्मकपक्ष विकसित होना प्रारम्भ हो जाता है। महानतम विचारकों का भी यही कथन है कि "यह चित्त नामक की नदी दोनों और ही बहने वाली होती हैं अर्थात् यह कल्याण के लिए भी बहती है तथा पाप के लिए भी।"

जब इस चित्तनदी की पापात्मिका अज्ञानात्मिका प्रवृत्ति रोक दी जाती है, तो वह स्वतः ही अपने स्वाभाविक जलप्रवाह के द्रवण की भाँति एकमात्र कल्याणवाहिनी धारा में ही बदल जाती है। इसीलिए संसार के सभी विचारकों ने यही सार्वभौमिक सिद्वान्त या लक्ष्ण भी स्वीकार का लिए है। कि जो मनुष्य पूर्णकल्याण धारा में या ज्ञान में स्थित हो जाता है उससे कदापि पापकर्म स्वप्न में भी नहीं होते। परन्तु गहन विवेचना करने पर यद्यपि यह भी एक वादमात्र सिद्ध भी एक वादमात्र सिद्ध हो जाता है, तदपि इसकी मौलिक विशेषता तथा सापेक्षिक आवश्यकता तो सर्वदा बनी ही रहती है। क्योंकि सिद्धान्ततः जो भी वस्तु द्वन्द्व की सीमा में आबद्ध होकर रहेगी वह सापेक्ष होने से नित्य स्वभावाली कहलाने क योग्य

नहीं हो सकती। अर्थात् ज्ञान या सकारात्मक सदैव ही नित्यरूप में बनी रहेगी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता न तो सिद्धान्तिक रूप से न ही व्यावहारिक रूप से ही। यही कारण है कि गीता में भगवान् अर्जुन को इसी मानवजीवन की द्वन्द्वात्मिका ज्ञान व अज्ञान की परिस्थिति से बाहर निकालने के लिए शास्त्रीय बुद्धि से ओतप्रोत सार्वभौमिक व सार्वकालिक सिद्धान्त को मानवजीवन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उसके माध्यम से समस्त मानवजाति का ही दिशानिर्देशन करते हुए कहते हैं "हे अर्जुन (मानव ये समस्त वेदों के विषय (सांसारिक विषय) तीनों गुणों (सत-रज-तम) से ही ओतप्रोत रहते हैं। अतः तुम इन तीनों से ही परे (तीनों गुणों से अतीत) होकर जीवन व्यवहार करो।[1]

इस श्लोक में श्रीभगवान् ने स्पष्ट ही कर दिया है कि तीनों गुणों या दोनों पक्षों(ज्ञान-अज्ञान-सकारात्मक- नकारात्मक) से परे रहकर ही मानव व्यावहारिक व पारमार्थिक स्तर पर आदर्श का निर्वाह कर सकता है तथा जीवन के चरम व परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि गुणों की सत्ता परस्पर सापेक्ष होने से केवल परिस्थितिगत या परिवेशगत उपयोगिता तो स्वीकार की जा सकता है, परन्तु सार्वभौमिक व सार्वकालिक उपयोगिता स्वीकार नहीं की जा सकती। यहाँ 'कण्टक उत्पाटन न्याय' ही वस्तुतः अक्षरश घटित होता है। अर्थात् एक कण्टक क़ा ग्रहण दूसरे कण्टक को निकालने के लिए ही किया जाता है और पहले कण्टक के निकल जाने पर दोनों को ही फेंक दिया जाता है। यही रहस्य उक्त श्रीभगवान् के गीता वाक्य क़ा भी है कि तीनों गुणों में रहते हुए भी वास्तव में इनसे परे भी जाना ही पड़ता है तभी वास्तविक मानव जीवन का लक्ष्य प्राप्त होता है।

अतः मानव जीवन में अज्ञान का सम्बन्ध केवल सापेक्ष ही सिद्ध होता है। तथा यह सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान के सम्बन्ध के मार्ग को भी प्रशस्त व पुष्ट करता है, यही इसकी मलूभूत उपयोगिता व प्रयोजन भी

---

1. त्रैगुण्यविषयो वेदा निस्त्रैगुण्यो, भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान॥ —भ॰गी॰, अ॰ 2/45

होता है।

यही कारण भी रहा है कि चाहे प्राचीनतम विचारक हों या आधुनिकतम सभी ने अपने-अपने विचारशास्त्रों व सिद्धान्तशास्त्रों का प्रारम्भ द्वन्द्व के नकारात्मक पक्ष को ही आधारशिला बनाकर किया है। विचार चाहे कितने ही अस्फुट या स्फुट हों, र्माजत या अर्माजत हों, उत्कट या अनुत्कट हों, परन्तु उनमें सर्वप्रथम एक ऐसी विषयवस्तु के वर्णन ही स्पष्ट होते हैं कि जिसमें मनुष्य अपनी भौतिक या आध्यात्मिक समस्याओं से जूझता हुआ, छटपटाता हुआ दिखाई पड़ता है। उसे जीवन के मार्ग की, शान्ति व सत्य के लक्ष्य की एक परमावश्यकता अपरिहार्य रूप से प्रतीत होती है और वह उसके लिए सदैव तत्पर ही नहीं सर्वस्व बलिदान करने को भी तैयार रहता है।

मानव की इसी नकारात्मक अज्ञानत्मिका प्रवृत्ति ने विश्व में समय-समय पर अनेक प्रकार के र्धामक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि आन्दोलनों को जन्म भी दिया और उनका मार्गदर्शन भी किया। वर्तमान निकट अतीत में यीद देखें तो विश्व के पटल पर साम्राज्यवाद, औपनैवेशिकवाद, पूंजीवाद इत्यादि के विरोध में जनतन्त्रवाद, समाजवाद तथा सर्वहारावाद का जन्म हुआ। इसी प्रकार जीवन के क्षेत्रों में भी अनेक वादों ने जन्म लिया। जैसे-विकासवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, विज्ञानवाद, बुद्धिवाद इत्यादि।

सभी वादों की भूमिका में मानव की तात्कालीन घुटन व त्रस्तता ही कारण वनी और उसी से छुटकारा पाने के लिए उसके प्रयासों ने विभिन्न वादों के रूप में 'ज्ञान के मार्ग' का सहारा लिए अथवा उसका सूत्रपात किया। अतः मानव जीवन के सामान्य स्तर से लेकर उसके विशेष चरम स्तर तक इस विद्या व अविद्या का विषय व्यापक से सह-अस्तित्व को धारण करते हुए गतिमान् रहता है यही सिद्धान्ततः सिद्ध हो जाता है।

अतः मानव जीवन में 'अज्ञान' या ह्यसोन्मुखी नकारात्मक पक्ष का ही स्थान अवश्यम्भावी सिद्ध हो जाता है और वह जीवन का एक तीनों

कालों में भी न टाला जा सकने वाला एक अभिन्नाङ्ग है। मानवजीवन के अस्तित्व या सत्ता में ही इसकी स्थिति है।

1. जीव की उत्पत्ति स्थिति

जब जीव को इस संसार में मनुष्य योनि में जन्म लेना होता है, तो यह भगवान् की प्रेरणा से अपने पूर्व कर्मानुसार देह प्राप्ति के लिए पुरुष के वीर्य कण के द्वारा स्त्री के उदर में प्रवेश करता है।[1] अर्थात् समय आने पर अपने कर्मों से सम्बन्धित परिणामों को भोगने के लिए अपनी-अपनी अन्तिम वृत्ति के अनुसार चौरासी लाख प्रकार की योनियों के किसी-किसी शरीर में भ्रूण के साथ ही संयुक्त हो जाता है, यही उसका जन्म कहलाता है। कर्मों के फलभोग अनुसार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उस शरीर विशेष को धारण किये रहना उसकी स्थिति कहलाती है।

(क) जरामरण

जन्म- मृत्यु और पुनर्जन्म जहाँ भारतीय धर्म एवं संस्कृति की मूल भित्ति है, वहीं अपने आप में अत्यन्त गूढ़ गोपनीय और रहस्यमय है। जीवन क्या है? मृत्यु कैसे होती है? मुत्यु के समय प्राणी की क्या दशा होती है? मरने के बाद वह किस गति को प्राप्त होता है?

ऐसी बहुत- सी विलक्षण वस्तुओं का आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक, शक्तिशाली सम्राट, जिन्होंने आश्चर्यजनक कार्य किये, धर्मक, कवि अद्‌भुत कलाकार, असंख्य ब्राह्मण ऋषि, योगी आये और चले गये। सभी यह जानने के इच्छुक हैं कि वे कहाँ चले गये? क्या अभी भी उनका अस्तित्व है? मृत्यु के उस पार क्या है? ऐसे प्रश्न निर्बाध रूप से सबके हृदय में उठते रहते हैं। इन प्रश्नों को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि ये हमारी प्रकृति से अविभाज्य रूप से जुड़े हुये हैं।

मृत्यु एक ऐसा विषय है, जो सबकी गहन उत्सुकता से सम्बन्धित है आज या कल सभी मरेंगे मृत्यु का भय सभी मानव प्राणियों पर छाया रहता है।

---

1. कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्टः उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥ —भागवत, स्कं० 3/31

इन प्रश्नों ने पश्चिम में भी बहुत से वैज्ञानिक क्षेत्रों में बड़े परिमाण में रुचि एवं ध्यान आर्कषत किया है। बहुत से परीक्षण किये गये हैं, लेकिन ये अनुसन्धान इसी प्रश्न तक सीमित रहता है या नहीं या आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? विज्ञान के "माध्यम" के द्वारा प्रेतात्म-जगत् से सम्बन्ध स्थापित कर आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित कर दिया है।

इसका विज्ञान मृत्यु के सभी भयों को दूर करने के लिये एवं मनुष्य को इस योग्य बनाने के लिये कि मृत्यु को जीतने का एवं अमरता प्राप्त करने का उचित ढंग खोजना चाहिये, इसके लिए प्रेरित करता है योगसाधना का एक लक्ष्य मृत्यु का प्रयन्नता और निर्भयता से सामना करना है। एक सच्चे साधक को मत्यु का भय नहीं रहता। मृत्यु उन लोगों से कांपती है, जो-जप तप और ध्यान करते हैं। मृत्यु के दूत उस तक पहुंचने का साहस नहीं कर सकते। भगवान् कृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं:-

"मेरी शरण में आने से ये महात्मा फिर जन्म को प्राप्त नहीं होते, जो दुःख एवं मृत्यु का लोक है। वे परमानन्द में लीन हो जाते हैं।"

मृत्यु एक सांसारिक व्यक्ति के लिए दुःखदायक है। एक निष्काम कर्मयोगी का मरने के बाद फिर कभी जन्म नहीं होता। भीष्म की मृत्यु उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर थी। सावित्री अपने पति सत्यवान् को अपनी सतीत्व शान्ति के बल पर वापिस ले लाई। इम भी ज्ञान, भक्ति और ब्रह्मचर्य के बल पर मृत्यु को जीत सकते हैं।

मृत्यु के समझने के पूर्व जीवन को जान लेना चाहिए, फिर मृत्यु का प्रश्न स्वयं हल हो जाता है। उसके लिये किसी उद्योग की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जीवन उस परम ज्योति का नाम है, उस महान् विशाल शान्ति का नाम है, जो जगत् के प्रत्येक पदार्थ को स्फुरण देती है और उसे आगे बढ़ाती है। संसार की समस्त वस्तुयें हमें घटती-बढ़ती और चलती फिरती दृष्टिगोचर होती हैं। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही जीवन से ओत-प्रोत है। एक इंच की जगह यहाँ ऐसी नहीं, जो जीवन से खाली हो। विश्व के जिस भाग से जीवन नष्ट हो जाएगा, वहाँ महाप्रलयकाण्ड

उपस्थित हो जाएगा। वह ऐसा मिट जाएगा कि वहाँ के परमाणुओं का ढूँढने पर भी पता नहीं चलेगा।

इस जीवन का एक भाग हमारे भी हिस्से आया है। हम उसी के कारण जीवित कहे जाते हैं। उसी शक्ति से हम अपनी इन्द्रियों, मन–बुद्धि और शरीर को चलाते–फिराते और काम लेते हैं। जिस दिन जीवन समाप्त हो जाएगा, हमारे सारे व्यवहार बन्द हो जायेंगे। हम कोई काम नहीं कर सकेंगे, यही हमारी मृत्यु है।

इस स्थूल शरीर से जीवात्मा का पृथक् हो जाना ही मृत्यु कहलाती है। मृत्यु होने पर शरीर बेकार हो जाता है। आत्मा को वहाँ फिर सुख नहीं मिलता हैं अतः वह उसे त्याग कर दूसरे स्थान को निकल जाती है और अपने सुख के लिये दूसरे शरीर की खोज करने लगती है और मिल जाने पर उसी में निवास करने लग जाती है। अतः मनुष्य में जो चैतन्यता है, उसके निकल जाने पर मृत्यु हो जाती है। उदाहरणतया किसी मकान की दीवारें और छत इतनी जर्जर हो जायें कि उनमें रहने वालों की रक्षा जल वायु और धूप से न हो सके, तो वे उसे त्याग कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं अपनी सुविधा के अनुसार घर तलाश कर रहने लगते हैं। इसी प्रकार चैतन्य स्वयं ही अपने लिये दूसरा घर ढूँढता है। अब यह प्रकृति का काम रहा है कि उसे उसकी हैसियत के अनुसार स्थान दे। जिसके जैसे कर्म होंगे, उसी को देखकर दूसरा शरीर दे दिया जाता है। जीव उसमें रहने के लिए विवश होता है।

मृत्यु के अनन्तर ही नवीन तथा उत्तम जीवन का प्रारम्भ होता है। मृत्यु मनुष्य के व्यक्तितत्व और आत्म चेतना को रोकता नहीं। यह तो जीवन के उत्तम स्वरूप का द्वार उन्मुक्त करती है इस भाँति मृत्यु पूर्णता जीवन का प्रवेश द्वार है, जिस प्रकार जीवात्मा कर्मों के अनुसार एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जाता है। जिस प्रकार एक मनुष्य फटे पुराने वस्त्रों को निकाल फैंकता तथा नये वस्त्र धारण करता है, उसी भाँति इस शरीर का निवासी जीर्ण–शीर्ण शरीर को फैंककर नये शरीर में

1. वासांसि जीर्वानि यथा विहाय नवानि गहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णोन्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ —भ॰गी॰ 2/22

प्रवेश करता है।[1]

इस शरीर से जीवात्मा का अलग होना, निद्रा से अधिक कोई विशेष बात नहीं। जिस प्रकार जन्म और मृत्यु ये दोनों ही हैं। मृत्यु निद्रा की दशा है और जन्म जागृति की सी दशा है। मृत्यु श्रेष्ठतर नवीन जीवन का विकास करती है।

प्रत्येक जीवात्मा की स्थिति एक वृत्त के समान है। इस वृत्त की परिधि किसी भी स्थान पर नहीं है, परन्तु इसका केन्द्र इस शरीर में है। एक शरीर से दूसरे शरीर में इस केन्द्र का स्थानान्तरित होना ही मृत्यु कहलाती है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि "आत्मा तो किसी तरह मरता नहीं केवल शरीर का नाश होता है। जिस प्रकार शरीर की बाल्यावस्था युवावस्था और वृद्धावस्था तीन अवस्थायें होती है, उसी प्रकार जीव भी एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर पाता है।[1] यह शरीर विनाशी है। इसमें जो जीव रहता है, वह अविनाशी और परिणाम रहित है। यह आत्मा अमर है।[2] इस आत्मा को न कोई मार सकता है और न यह मरता ही है; क्योंकि आत्मा किसी तरह मरता ही नहीं, केवल शरीर का नाश होता है।

यह आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है, न कभी पहले हुआ था और न कभी आगे होगा। यह आत्मा जन्म रहित है, नित्य है और सनातन, पुरातन है। शरीर के नाश से आत्मनाश नहीं होता।[3] जैसे-मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्रों को त्यागने में कुछ कष्ट नहीं होता, वैसे ही देह के त्यागने से भी कुछ कष्ट नहीं होना चाहिए।[4]

---

1. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
   तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ —भ॰गी॰, 2/13
2. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
   अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत्॥ —भ॰गी॰, 2/18
3. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविरता वा न भूयः।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —भ॰गी॰, 2/20
4. वासांसि जीर्वानि यथा विहाय नवानि गह्णाति नरोऽपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णोन्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ —भ॰गी॰, 2/22

इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नहीं सकता और पवन सुखा नहीं सकता, क्योंकि यह नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर, अचल और शाश्वत् है।[1]

यह आत्मा इन्द्रियों से परे है। मन से विचार के योग्य नहीं है। ऐसे विचार रहित आत्मा को जानकर इसके लिये सोचना नहीं चाहिए। जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा और जो मरा है, वह अवश्य जन्म लेगा।[2]

वास्तव में परमात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भी जानता है। अपनी सृष्टि को भी जानता है। चैतन्य एवं सृष्टि के योगरूपी जीवात्माओं को भी जानता है। किन्तु जीव इसमें से किसी रूप को नहीं जानता। इसलिए वह अल्पज्ञ और अशक्त होता है। वह संस्कारों के जाल में अपने को भोक्ता मानने के कारण बद्ध होता है और जन्म मरण के चक्र में घूमता है।

यह जीवन एक प्रकार की वाष्प (भाप) है, जो जल अग्नि और वायु से तैयार होती है। यह गैस हमारे शरीरों में हर समय तैयार होती रहती है और पृथ्वी तत्त्व से बने हुए अनेक कल–पुर्जों को, जो हमारे शरीर के अन्दर विद्यमान हैं ठोकर देती रहती है। इससे वे क्रिया में आ जाते हैं। उस समय हमारे अन्दर निवास करने वाली शक्तियाँ (मन, बुद्धि, ईर्ष्या) उठ खड़ी होती हैं और अपने अपने काम में लग जाती हैं।

इस प्रकार आँखें देखती हैं, कान सुनता है मुख बोलता है; पाँव चलता है, मन सोचता है इत्यादि। यह सब इसी शक्ति के आधार पर होता है। यह न रहे, तो सबके कार्य बन्द हो जाते हैं। मृत्यु के समय अग्नि मन्द पड़ जाती है; चुल्हा बुझ जाता है, फिर भाप कौन बनाये।

---

1. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः। —भ॰गी॰, 2/23
   अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
   नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। —भ॰गी॰ 2/24
2. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
   तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ —भ॰गी॰ 2/27

इसलिये सारे कारोबार रुक जाते हैं। इस भाप का नाम ही प्राण है। वेदों ने प्राण को ब्रह्म तक कह डाला है। उपनिषदों में भी बड़ी रोचक गाथा आई है।

एक समय मर्हष पिप्पालाद ने भृगुकुलोत्पन्न ब्रह्मचारी वैर्दभ से जाकर पूछा-हे भगवन्! कितने देव (शक्तियाँ) इस शरीर को धारण करते हैं? कितनी शक्तियाँ इसे प्रकाशित करती हैं और कौन उनमें श्रेष्ठ है? ऋषि कहने लगे-हम तुम्हें गाथा सुनाते हैं, "इस पाँच-भौतिक शरीर को प्रकाशित करने वाले पाँच तत्त्व, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन को यह अभिमान हुआ कि हम ही इस शरीर के पालक, पोषक और संचालक हैं। हमारें बिना इसका कोई कार्य नहीं हो सकता है।[1] इस पर प्राण बोलो तुम सब झूठे हो, यह देह मेरे कारण थमी हुई है तुम सबको मैं ही बल दे रहा हूँ। यदि निकल जाऊँ, तो तुम्हारे सब कार्य रुक जायेंगे। परन्तु प्राण की इस बात को किसी ने स्वीकार नहीं किया। प्राण ने कहा-यदि तुम नहीं मानते, तो तुम सब एक-एक करके इस शरीर से अलग हो जाओ और फिर देखो कि- शरीर रहता है या नहीं। इस पर आँखें निकल भागीं, परन्तु शरीर का व्यवहार ज्यों का त्यों होता रहा। फिर कान निकल भागे, परन्तु इससे भी बहरों की भाँति वह अपना कार्य करता रहा। वाणी बन्द हो गई, पर शरीर का कुछ न बिगड़ा। इसी प्रकार सभी ने अपना कौतुक दिखाया और अन्त में बड़े गर्व से मन कहने लगा देखो अब मैं जाता हूँ। मेरे जाते ही तुम कुछ न कर सकोगे। मन चल दिया, पर शरीर फिर जैसे का तैसा ही रहा, जैसा कि योगियों का रहता है। योगी लोग मन को मार लेते है, पर क्या मन के साथ शरीर भी मर जाता है? नहीं। अन्त में प्राण की बारी आती है। उसने कहा- सम्भल जाओ अब मैं निकलता हूँ। प्राण ने जब अपने को खींचा, सब खिंचने लगे और शरीर के सारे व्यवहार बन्द हो गये।

---

1. तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाऽहमेवैत्।
पंचधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्ठभ्य विधारयामीति॥ —प्र॰उप॰, अ॰ 2, मं॰ 3

इस प्रकार अनुभव को प्राप्त हो शरीर स्थित सारी शक्तियाँ प्राण की स्तुति करने लगी।[1]

(ख) जन्म का कारण

एक ओर इस संसार में प्रत्येक पदार्थ नष्ट होता है, हर प्राणी मरता है और कृति क्षय एवं नाश होता ही रहता है तो दूसरी ओर यह सृष्टि कभी खाली नहीं होती। जो कुछ जितना और जिस प्रकार का था वैसा, उतना ही उसी प्रकार का पुनः रूप और आकार लेकर वापस आता है। प्राणी मरते हैं, तो नये जन्म भी होते हैं। पदार्थ विनष्ट होते हैं, तो नये रूप ग्रहण कर लेते हैं। परिवर्तन ही शाश्वत् सत्य है। रूप परिवर्तन, आकार परिवर्तन, भाव परिवर्तन, विचार परिवर्तन और निरन्तर परिवर्तन और चेतन–अचेतन का परिवर्तन। यह परिवर्तन भी प्रकृति के एक ही नियम से संचालित होता है। वह है कि पदार्थ अविनाशी है न कम होता है न बढ़ता है और न समाप्त होता है। जितना है उतना ही रहता है और सदैव उतना ही रहेगा। रूप–रंग और आकार में परिवर्तन होता रहेगा। यही सृष्टि में सदा से होता आया है।

यह शरीर इसकी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब, जड़ पदार्थ है, वहीं समस्त इच्छाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ, भावनाएँ और विचार भी जड़ पदार्थ हैं। अन्तर केवल इनकी सूक्ष्मता में है। हम जानते हैं कि प्रत्येक शब्द एक अर्थ रखता है। जब वह बोला जाता है, जो ईश्वर आकाश में एक ध्वनि तरंग बनाता है। जब हम उस ध्वनि तरंग को पुनः अपने–अपने यन्त्र पर ग्रहण कर लेते है तो वह पुनः प्रकट हो जाता है। कोई भी बोला हुआ शब्द या केवल सोचा हुआ शब्द अपने से ही जुड़ी हुई विभिन्न–विभिन्न सूक्ष्म तरंगो को जन्म देता है। हम कितने जितने विचार कहते, या करते हैं, वह सब सूक्ष्म तरंग रूप आकाश में शेष रह जाता

---

1. सोऽभिमानादुर्ध्वमुत्क्रामत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे
सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा
एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्क्षुः श्रोत्रं च ते
प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति॥ —प्र॰उप॰, अ॰ 2, मं॰ 4

है और हमारे मस्तिक से भी जुड़े रहते हैं ये भी तो जड़ है। इनका कभी नाश नहीं होता, ये भी कभी समाप्त नहीं होते, सदा-सदा रहते हैं। ये ही मानव के सूक्ष्म संस्कार हैं। इनका भी कभी नाश नहीं होता है। जिस प्रकार पदार्थ का रूप परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार यह विचार भी अपने नवीन स्थान पर परिर्वतत होकर चले जाते हैं जैसे- कार्बन सदा कार्बन के मूल रूप में ही परिर्वतत होगी, आक्सीजन अपने ही रूप में और इसी प्रकार ही तत्त्व अपने मूल तत्त्व रूप में पुनः परिर्वतत होता है। ठीक उसी प्रकार मानव द्वारा अर्जत अनन्त संस्कारों की सूक्ष्म तरंगें अपने मन, बुद्धि व अहं के सूक्ष्म परमाणुओं के घेरे में सन्निहित चैतन्य अंश सहित शरीर के अन्त होने के पश्चात् आकाश के सूक्ष्म मण्डल में चली जाती हैं। ये तरंगें ऐम्स, अल्फा, गामा रे या अल्ट्रावॉयलेट किरणों से भी सूक्ष्म होती हैं। अतः उनके जलने व नष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्येक जीव का यही सूक्ष्म शरीर कहलाता है, जो उन्नत विचार संस्कार की धारा होती है और मन, बुद्धि व अहं के परमाणु इसमें सन्निहित होते है, यही सूक्ष्म शरीर व अपने से सम्पर्क में आये किसी भी व्यक्ति के शरीर में भ्रूण के बनने पर आता है तो जिससे जिसका निकटतम सम्पर्क का कर्मफल से सम्बन्ध होता है उसके भ्रूण अथवा अवस्था में सूक्ष्म तरंगों द्वारा जुड़ जाता है। ज्यों-ज्यों गर्भ विकसित होता है; वैसे-वैसे ही सूक्ष्म तरंगों की धारा उससे जुड़ती जाती हैं और उसे मस्तिष्क के रोगी बेलम वाले भाग में असंख्य धरियां खींच देती हैं। आगत मनुष्य के विकास होने पर बाहर की सूक्ष्म तरंगे उसमें प्रवेश कर जाती है। एक नये शरीर से इस सूक्ष्म तरंग धारा का जुड़ जाना ही पुनर्जन्म कहलाता है। जिस प्रकार पदार्थ का रूप परिवर्तन होता है उसी प्रकार जीव का स्वरूप परिवर्तन होता है। यह सब प्रकृति जीव का स्वरूप परिवर्तन होता है यह सब प्रकृति के अविनाशशीलता एवं स्वरूप परिवर्तन के नियमानुसार होता है।

गीता में पुनर्जन्म के विषय में लिखा है, जिस देहधारी को इस देह में बालपन, तारुण्य और वृद्धावस्था प्राप्त होती है। इस देह की तीनों

अवस्थाओं से देहधारी आत्मा में कोई हेर-फेर नहीं होता है।[1] देह के बालपन में आत्मबल नहीं होता है। इस प्रकार देह के तारुण्य और वृद्ध होने पर आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार इस देह की समाप्ति पर दूसरी देह प्राप्त होना अन्य अवस्था ही है। आत्मा जैसे पहले तीन अवस्थाओं में रहती हुई एक जैसी रहती है; उसी प्रकार अन्य देह की प्राप्ति होने पर भी रहती है और इसी प्रकार इस जन्म के पूर्व भी पूर्व देह की अन्मित अवस्था में वह थी।

ऋग्वेद में भी इसी प्रकार कहा गया है कि वह सनातन है पुनः पुनः नवीन जैसा होता है। वही स्त्री और पुरुष भी हैं। वही कुमार है कुमारी भी है पिता है और पुत्र भी है। ज्येष्ठ और कनिष्ठ भी है। मन में प्रकट होकर ठहरा हुआ एक ही देव है। जो पहले जन्मा था, वही अब गर्भ में पुनः आ गया है।[2]

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है। वह स्त्री के शरीर में स्त्री और पुरुष के शरीर पुरुष होती है। वह कुमार कुमारी वृद्ध-तरुण जरापीड़ित होती है। यह शरीर की अवस्था के कारण ही होता है, ऐसा मानते है। उसी प्रकार यह किसी का पिता किसी का पुत्र किसी कार बड़ा भाई और किसी का छोटा भाई होता है और एक बार यही जन्म लेने पर भी पुनः पुनः गर्भ में आता है।

इसी प्रकार उपनिषदों में भी कहा गया है कि बड़ी आयु होने के बाद इस लोक से जाता है और पुनः जन्म लेता है।[3] वह पुनः पुनः बाद इस लोक से जाता है और पुनः जन्म लेकर मृत्यु के वश में होता है।[4] यही प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओं में है वह पहले जन्मा था वही फिर

1. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
   तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ —भ॰गी॰, 2/13
2. सनातनमेनमाहुरुताद्य स्थात्पुनर्णवः। त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्व कुमार
   उतवा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।
   उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उतवा कनिष्ठ।
   एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रयमा जातः उ गर्भे अन्तः॥ —ऋ॰वे॰, 20/8
3. वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। —ए॰उप॰ 4/4
4. पुनः पुनर्वशमापद्यन्ते इमे। —कठ॰उप॰ 2/6

से गर्भ में आया है। वह एक बार जन्मा हुआ भविष्य में पुनः जन्म लेगा।[4]

इसी कारण इसको मातारिश्वा अर्थात् माता के गर्भ में रहने वाला कहते हैं। क्योंकि यह बार-बार माता के गर्भ में जाता है और जन्म धारण करता है, उसे देह की समाप्ति पर उस देह का त्याग कर माता के गर्भ में प्रविष्ट होता है और वहाँ नया देह धारण करता है गीता के अनुसार और वहाँ नया देह धारण करता है। इस प्रकार यह बार-बार माता के गर्भ में रहकर बार-बार भिन्न-भिन्न देह धारण करता है। गीता के अनुसार आत्मज्ञानी मनुष्यों को पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् ऐसे मनुष्य जन्म मरण के प्रवाह से बाहर हो जाते हैं। जिनके पाप ज्ञान से धुल गये है; वे पवित्रात्मा लोग ईश्वर का ध्यान करते हैं और ईश्वर परायण होते हैं।

इससे यह जन्म मरण के चक्र से छुट जाते हैं।[2] ब्रह्म लोक से लेकर सब लोग जन्म मरण की यातना भोगने वाले हैं परन्तु जो मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करते हैं, उनको पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता।[3]

इस प्रकार परमेश्वर की भक्ति करके उसे (ईश्वर) को प्राप्त होने के पश्चात् पुनः-पुनः जन्म मरण के कष्ट में नहीं पड़ते। इस ज्ञान को प्राप्त करके उपासक ईश्वर के गुण-धर्मों के समान गुण धर्मों से युक्त होता है, तत्पश्चात् उसको सृष्टि की उत्पति के समय में भी जन्म लेना नहीं पड़ता और प्रलय काल में भी उसको व्यथा नहीं होती प्रकृति और पुरुष का यथावत् ज्ञान होने पर उसको कर्म करते हुए[4] भी निर्लेपता सिद्ध करने का उपाय ज्ञात होता है और उस कारण उसको पुनर्जन्म लेने का कारण नहीं बनता। अतः स्पष्ट है कि जीव के जन्म का कारण उसके

1. एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वा पुरुषो हजातः स उ गर्भे अन्त।
   स एव जातः स जनिष्माणः प्रत्यङ जनस्तिष्ठति सर्वतोमुख॥ —श्वे॰ उप॰ 2/16
2. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा।
   गच्छन्त्यपुनरावृत्तिज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ —भ॰गी॰, अ॰ 5/17
3. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरार्वतनोऽर्जुन।
   मामुमेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ —भ॰गी॰, अ॰ 8/16
4. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
   सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ —भ॰गी॰, अ॰ 14/2

कर्म हैं एवं कर्म अज्ञान जनित हैं वह छुपकर कर्म बाँधने वाला ही होता है। परन्तु निष्काम कर्म अथवा ज्ञान भवचक्र से छुटकारा दिला देता है अर्थात् उसे दुबारा जन्म नहीं लेना पड़ता। ज्ञान रूपी अग्नि से संचित और क्रियामाण कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु प्रारब्ध भोग भोगना ही पड़ता है। उसके फल को भोग लेने पर वह कर्म जनित भवबन्धन ही छूट जाता है। अतः जन्म का कारण अज्ञान एवं सकाम कर्म ही है।

(ग) कर्म और सुख–दुख भोग

मानव के अन्तराल में यह प्रश्न कहीं न कहीं अवश्य छिपा रहता है कि 'वह कौन है?' उसके जन्म लेने की आवश्यकता क्यों है? जन्म के साथ मृत्यु निश्चित् रूप से जुड़ी हैं जन्म का दूसरा रूप ही मृत्यु है। क्या प्राणी मरने के लिए जीता है? क्या उसका दूसरा भी कोई अस्तित्व है? इस संसार में इतना दुःख शोक, रोग और कष्ट क्यों है? जीव कर्मों के बन्धन में क्यों पड़ता है?

इस संसार में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, जलन, शोषण, उत्पीड़न, हिंसा और नशे करने वाला, भक्ष्य–अभक्ष्य खा–पकिर भी स्वस्थ और बलवान् बने रहने वाला, धोखा, छल, कपट, मक्कारी, धूर्तता और कुत्सित विचारों से कार्य कर धनवान् शक्तिमान् ऐश्वर्यवान् और प्रसिद्धि प्राप्त करने वाला तथा घोर पापिष्ठ जीवन बिताका चले जाने वाला व्यक्ति क्या अपने दुष्कर्मों का फल नहीं पाता? यदि जन्म और मरण एक बार ही होता है, तो उसके अपने किये फल या परिणाम भोगने की आवश्यकता नहीं होती? क्या यह सब करके भी शरीर के चले जाने के बाद इन सब किये हुए कर्मों के फल से मुक्त हो जाता है?

गरुड़पुराण में बतलाया गया है कि जीव किन कर्मों के कारण दुःख भोगता है और परलोक में किस प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है।[1] जो मनुष्य दया, धर्म, वर्णाश्रम धर्म से रहित होकर सदा पाप कर्मों में संलग्न रहते हैं श्रेष्ठ शास्त्र वेद पुराण की आज्ञाओं का पालन नहीं

---

1. तथा संसार दुःखानि तत्वलेशक्षयसाधनम्
ऐहिकामुष्मिकान् क्लेशान् यथावद्वक्तुमर्हसि। —ग॰पु॰, अ॰ 1, श्लो॰ 5

करते।[1] अपने आपको पूजनीय समझकर अकड़ते हैं, धन, मान के मद चुर होकर अभिमान करते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि के कारण दैव सम्पदा से दूर रहते हैं।[2] पराये धन और पराई स्त्री का हरण करने के लि उद्यत रहते हैं, स्त्री, पुत्र आदि के मोह में पड़े रहते है और जिनका विष वासनाओं की पूर्ति में ही सारा समय नष्ट हो जाता है, वे पापात्म अपचित्र नरक में पड़ते हैं।[3]

जो मनुष्य ज्ञानवान् होकर सदा दुष्कर्मों से बचा रहता है, वह परम गति प्राप्त करता है।[4] पाप कर्मों में मनुष्य इस लोक में अनेक कष्ट पात है। जो अच्छे बुरे कर्म उसने पूर्व जन्म में किये होते हैं उन्हीं के अनुसा उसे अग्रिम जन्म मिलता है।

वस्तुतः कोई प्रांणी एक क्षण भर भी, कर्म किये बिना नहीं र सकता। प्रकृति में उत्पन्न हुए गुणों के वश में होकर प्रत्येक प्राणी क करता है।[5] मनुष्य के शरीर का व्यवहार भी कर्म के साथ बिना नहीं च सकता।[6] इतना प्राणी का सम्बन्ध कर्म के साथ है। एक क्षण भी जीव धारण करना कर्म के बिना सम्भव नहीं है। मानो जीवन का आधार ह कर्म है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन में सब प्राणीमात्र के स्वाभावि कर्म है। केवल स्वाभाविक अवस्था में रहने वालों के लिए भी ये क करना अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य तो सबसे श्रेष्ठ प्राणी है, उसका कर्त्तव्य क्षेत्र बड़ा ह

1. ये हि पापरतास्ताक्षर्य दयाधर्मविर्वजताः।
दुष्टसंगाश्च सच्छास्त्रसत्संतिपराङ्मुखाः॥ —ग॰पु॰, अ॰ 1, श्लो॰ 14
2. आत्मसंभाविता स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
आसुरं भावमापन्नादैवीसंपद्विर्वजताः॥ —ग॰पु॰, अ॰ 1, श्लो॰ 15
3. अनेकचित्त् विभ्रांतामोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताःकामभोगेषु पंततिनरकेऽशुचौ॥ —ग॰पु॰, अ॰ 16
4. ये नरा ज्ञानशीलश्च ते यांति परमां गतिम्॥ —ग॰पु॰, अ॰ 1, श्लो॰ 17
5. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —भ॰गी॰, अ॰ 3/5
6. नियत कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥ —भ॰गी॰, अ॰ 3/8

विस्तृत है। अतः मनुष्य को अपने स्वभाव और अधिकार की दृष्टि से भी कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य तो सबसे श्रेष्ठ प्राणी है उसका कर्त्तव्य क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। अतः मनुष्य को अपने स्वभाव और अधिकार की दृष्टि से भी कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण वेद का आदेश यह है "यहाँ मनुष्य प्रशस्त कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक ऐसा करते हुए कर्म करने की आज्ञा दे रही हैं।"[1]

मनुष्य के शरीर में अनेक इन्द्रियाँ हैं। प्रत्येक इन्द्रिय में इन्द्र अपनी शक्ति रखता है, मानो इन्द्र अपनी शक्ति इन्द्रिय द्वारा प्रकट करता है। इस इन्द्र का नाम शतक्रतु वेद में और लौकिक संस्कृत में है। शतक्रतु का अर्थ "सैकड़ों कर्म करने वाला है, अर्थात् मनुष्य का जीवात्मा जो इसके शरीर के मध्य केन्द्र में बैठकर कार्य करता है वह स्वभावतः सैकड़ों कर्म करने वाला है। इसलिए कहा गया है।[2] मनुष्य कर्म करता है[3] क्योंकि कर्म करना उसका स्वभाव है। कर्म किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता है।

कर्म करके देवत्व प्राप्त करते हैं।[4] कर्मों में अमृत है।[5] पुण्य कर्म की सुगन्ध दूर तक जाती है। और वह दूरस्थों को भी आनन्द देती है।[6] इसलिए मनुष्य को स्वभाव से सत्कर्मशील बनना चाहिए। कर्म फल के हेतु (फल) से कर्म नहीं करना चाहिए। कर्म करना मानव का कर्त्तव्य है। उसके करने से उन्नति होती है और न करने से अवनति होती है।

गीता में कहा गया है कि जो मनुष्य आसक्ति छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मों को करता है; वह पानी में कमलपत्र की भाँति पाप से.

---

1. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
   एवं त्वपि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —इ॰वा॰उप॰, मं॰ 2
2. य प्रथमः कर्मकृत्याय जातः। —अथर्व॰, 4/24/6
3. कर्म कृण्वन्ति मानुषाः। —अथर्व॰, 6/23/3
4. कर्माणा देवानपि यान्ति॥ —तै॰उप॰, 2/8/1
5. कर्मसु अमृतम्। —मु॰उप॰, 8/2
6. कर्मजं बुद्धियक्ता हि फलं त्यक्त्वा मीषिणः।
   जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ —भ॰गी॰, अ॰ 2॰ श्लो॰ 2/51

लिप्त नहीं होता। योगी लोग आसक्ति छोड़कर शरीर से मन से, बुद्धि
अथवा इन्द्रियों से भी आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। इस प्रक
प्रारम्भ से अन्त तक श्रमिद्‌गवद्‌गीता में संगत्याग अथवा आसक्ति
त्याग और फलेच्छा का त्याग करके कर्म करने का उपदेश है और य
कर्मयोग है। इस प्रकार किये हुए कर्म कर्ता के लिए बाधक नहीं होत
प्रत्युत कर्ता की उन्नति करते हैं अर्थात् सकाम कर्म की अपेक्षा निष्का
कर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है।

मानव सुखी होना चाहता है। सुख के लिए सारे प्रयास करता है
दुःख की जड़ को छोड़ देना और सुख की जड़ पकड़ लेना चाहता है
दुःख की जड़ यह शरीर है। इस शरीर की जड़ जन्म है और जन्म क
जड़ क्या है? जन्म की कर्म है। इस शरीर से घृणित से घृणित का
करता है। एक दिन काल सिर पर आ जाता है तथा फिर पश्चाताप के
अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आता है।[1] अतः इन कर्मों को ब्रह्मज्ञान क
आग से जला डालना चाहिए।[2]

यदि ज्ञान की आग न मिली तो कर्मों का अच्छा बुरा फल भोग
नहीं पड़ता है। कर्म अति विस्तृत विज्ञान है। अखिल ब्रह्माण्ड कर्मों
वशीभूत होकर नाच रहा है।

कर्माध्यक्ष, कर्मों का मालिक कर्मानुसार इस जीवात्मा के लि
पहले ही दूसरा शरीर निश्चित कर देता है। इस जीवात्मा को निकालक
वासना और कर्मों के अनुसार बड़ी लम्बी यात्रा करवाई जाती है। व
जीवात्मा पहले आकाश को प्राप्त होती है और आकाश से वायु को
वायु होकर फिर धूम होते हैं और धमू होकर अभ्र होते है। वह अ
होकर मेघ होता है। मेघ होकर बरसता है। पुण्यशाली जीव आकाश, वा
इत्यादि पदार्थ जब नहीं बनते, परन्तु वे तो उन पदाथों के सदृश्य ही बन
हैं, वे आकाश के सदृश्य सूक्ष्म रूप धारण करते हैं और इससे वे वा

1. सो परत्र दुःख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताई।
कालहिं कर्महि ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगावहि॥ —रा०च०मा०उ०का०दो० 43
2. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पर्वजताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ —भ०गी०, 4/19

की सत्ता अथवा प्रभाव में आ जाते हैं और वहाँ से आगे चलकर वे धूम के सम्पर्क में आकर उससे मिल जाते हैं और इस प्रकार जीवात्मा इनसे होकर शीघ्र ही निकल जाता है।. जब मेघ होकर बरसता है तब वह जीव धान जौ औषधि, वनसपति तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही कष्टप्रद है। उन अन्न का भक्षण करने से वीर्य बनता है। जो उस वीर्य सेवन करता है। तद्रूप ही जीव हो जाता है।

आकाश, वायु धूम अभ्र तथा मेघ आदि रूपों में जब जीवात्मा को यात्रा करनी होती है। तब उसे इसमें अल्प समय ही लगता है। परन्तु बाद में उसे वीर्य सेचन द्वारा स्त्री गर्भ में जीव के शरीर, रूप रंग आकार आदि के रूप में विकसित होकर जन्म होने में पर्याप्त समय लगता है। जो वीर्य सेचन करने की जाति (वर्ग) के अनुरूप होता है। और साथ ही कष्ट भी बहुत अधिक होता है।

नारदीय पुराण में लिखा है, जो पुण्यशाली जीव ऊपर से नीचे आना आरम्भ करता है, उसे माता के उदर में प्रवेश करने में एक वर्ष लग जाता है; क्योंकि इसके पूर्व उसे अनेक स्थानों में भटकना पड़ता है।

धान्य तथा औषधियों में उनका अपना जीवात्मा रहता है। यह पुण्यशाली जीव उन जीवात्माओं के सम्पर्क में आते है, परन्तु वे उनके सुख-दुःख के भागी नहीं बनते। वे पुण्यशाली जीवात्माएँ तो धान्य के पौधों के केवल सम्पर्क में ही आते हैं धान्य तथा औषधियों को तो ये जीवात्मा अपने के रूप में ही उपयोग करते हैं। वे उनके साथ तद्रूप नहीं बनते। वे अपनी विशेषता को बनाये रखते हैं।

मानवजीवन के स्थूलतम स्तर पर जब हँम दृष्टिपात करते हैं तो वह सुख- दुख व कमों की महान् आँधी से ही घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। किसी भी स्तर पर उसे आत्मिक शान्ति या सहजता के दर्शन या प्राप्ति नहीं होती। विश्व के सभी विचारकों ने भी मनुष्य की इन सभी परिस्थितियों के विषय में भी विस्तार या संक्षेप से सभी कालों व युगों में भी विचार ही नहीं किया, अपितु, अपने-अपने निष्कर्ष भी प्रदान किए हैं।

प्रत्येक काल के अर्वाचीन व प्राचीन विचारकों ने अपने-अपने निष्कर्षों के द्वारा ही सुख-दुःख व कर्म के स्वरूप की मीमांसा प्रस्तुत की है।

मानव जीवन व कर्म :-

मानव जीवन व कर्म यद्यपि देखने में दो भिन्न तत्त्व या पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, परन्तु गहनालोचना करने पर ये दोनों एक दूसरे के यदि पर्याय भी कह दिए जाएँ तो कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। वस्तुतः जीवन कर्मक्षेत्र का ही अपरनाम बहुत से विचारकों द्वारा कहा गया है, वह सर्वांश में न हो तदपि उसे आंशिक सत्य तो स्वीकार किया ही जाता है। क्योंकि दार्शनिक तत्त्वज्ञानियों ने मनुष्य जीवन की उत्पत्ति जिस मूलतत्त्व या गुण से प्रतिपादित की है, वह रजस् या रजोगुण ही कहलाता है। अतः सभी मनुष्य रजोगुण का ही पुञ्ज होते हैं तथा मानवजीवन भी इस सिद्धान्त से रजोगुण का ही पिण्डीभूत स्वरूप सिद्ध होता है। अर्थात् सततगतिमान् पदार्थ। यही अर्थ 'कर्म' पद का भी शास्त्रों में कहा गया है कि 'करने वाला कारक' अर्थात् "क्रिया में प्रकृष्ट रूप से 'ईप्सिततम कारक' कर्म संज्ञक होता है।[1] अतः वैयाकरण सिद्धान्त की दृष्टि से भी क्रिया के उत्कृष्ट कारक की 'कर्म' संज्ञा हो जाती है। इसलिए वह स्वतः ही सतत् क्रियामय ही सिद्ध हो जाता है।

अतः जीवन व कर्म दोनों पर्यायवाची ही सिद्ध हो जाते हैं। अब इनके पारिभाषिक व परिवेशिक अर्थों की भेद परम्परा ही विभिन्न प्रकार के अर्थों व सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराती है। जैसे- "कर्म में ही मनुष्यों का अधिकार होता है।" "कर्म की गतिगहन होती है।" "कर्म, अकर्म विकर्म" इन तीनों की जान लेना चाहिए।" इसी प्रकार देश, काल व परिस्थिति के अनुसार भी कर्मों की व्यवस्था पृथक्-पृथक हो जाती है। जैसे-व्यक्तिगत कर्म सामाजिक कर्म, पारिवारिक कर्म, राष्ट्रियकर्म, मानवीय कर्म इत्यादि। अतः कर्मवाद का यह विस्तार मानवजीवन में इस प्रकार से ओतप्रोत रहता है कि वह उसे किसी भी स्तर पर पृथक् करके उसका चिन्तन भी नहीं कर सकता।

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचना।
   मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्तवकर्मणि॥ —भ॰गी॰, अ॰ 2/47

इसीलिए दार्शनिक शब्दावली में कर्म को बन्धन, नियति कारा तथा त्रासादि कहकर भी परिभाषित कर दिया जाता है, आगम निगम में भी इसका वर्णन 'क्रियाशक्ति' व 'साधारण कर्म' यह कहकर किया है। अतः कर्मसिद्धान्त मानवजीवन का एक मलूभूत सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। तथा विश्व के प्रायः सभी विचारकों ने 'कर्म' व 'कर्मफल' की सत्ता साक्षात् रूप में स्वीकार ही नहीं की, अपितु उसका अनेक तर्कों व युक्तियों से स्थापना भी की है। यह विषय सभी प्राचीन व अर्वाचीन विचारकों के साहित्य में उपलब्ध होता ही है। यह कर्म का पाश ही मनुष्य को अपने फलस्वरूप सुख व दुःख की परिस्थितियों से जोड़ने का महान् साधन बन जाता है। शास्त्रों ने भी यही उद्घोष किया है कि "मनुष्य मृत्यु के पश्चात् यथाकर्म व यथश्रुत ही गति को प्राप्त करता है।[1]" रजोगुण की अधिकता वाले मनुष्य लोक तथा तमोगुण की अधिकता वाले प्राणी अधोलोक (पशुलोक) को जाते है।"

अतः इन तीनों लोकों की गति के अनुकूल ही वे तत्तद् सुखदुःख भी प्राप्त करते हुए देखे ही जाते हैं।[2]"

सांख्यकारिकाकार ने भी विषय अपनी प्रथमकारिका से ही प्रारम्भ करते हुए त्रिविध दुःखों के कारण उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा से आरम्भ किया है[3] और प्राणीमात्र में यह जिज्ञासा अवश्यभावी है इसकी भी पुष्टि भाष्यकार वाचस्पतिमिश्र जी ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में विस्तार से कर दी है।

अतः मानवजीवन में कर्मपाश व सुख-दुःखादि द्वन्द्व सतत वर्तमान रहते हैं, यही चरम व परमसत्य सिद्ध हो जाता है।

(घ) अस्तित्व संघर्ष :

मानव जीवन में ब्रह्म स्तर पर निरन्तर एक द्वन्द्वात्मक संघर्ष की ही चित्रावली के दर्शन होते रहते हैं और प्रत्येक क्षण मानव अपने

---

1. अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरम्मिल्लोके पुरुषो भवति
   तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतं कुर्वीत। —छा॰उप॰, 3/14/1
2. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
   जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः॥ —भ॰गी॰ 14/18
3. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञसा तदपघातकेहेतौ।

अस्तित्व अर्थात् जीवन की रक्षा के प्रयास में ही कटिबद्ध दिखाई पड़ता है इसी अवस्था को आधुनिक विचारकों ने "survival of the fittest" 'उपयुक्ततम का जीवन' कहकर परिभाषित किया है। यद्यपि यह सिद्धान्त भी एकांगी ही सिद्ध होता है तदपि इसमें मानवीय उद्दाम अभिलाषा की उसकी जिजीविषा व विजिगीषा की झलक तो इसमें स्पष्ट ही प्रतिफलित व प्रतिध्वनित होती ही है। अर्थात् मनुष्य चाहे पतित हो पतितावस्था में भी क्यों न पड़ा हो तदपि वह अपने अस्तित्व के प्रति पूर्णरूप से जाग्रत ही नहीं पूर्णप्रयत्नशील भी रहता है। क्या रेलगाड़ी की लाईन पर की चींटी अपने को महाकाय गाड़ी से बचने के प्रयत्न में अपनी पूर्ण शक्ति नहीं लगा देती? क्या उस चींटी की 'जीवनरक्षा की शक्ति के सम्मुख महाकाय रेलगाड़ी की यान्त्रिक शक्ति महान् व उत्कृष्ट कही जा सकती है? क्या इंजन उस जीवन रक्षासन्नद्ध चींटी से महान् कहा जा सकता है?

इत्यादि प्रश्न ही मानवजीवन तो क्या प्राणजीवन मात्र की महानता का प्रकाशन दिनरात करते ही रहते हैं। अतः मानवजीवन में यद्यपि यह अस्तित्व की रक्षा का प्रयास एक परिस्कृतरूप में व व्यापक मानवता के स्तर पर दिखाई देता व क्रियान्वित होता है तदपि उसकी प्रकृति में तो वही उपर्युक्त चींटी के जीवन रक्षा सिद्धान्त की भावना या प्रवृत्ति ही कार्य कर रही होती है कि जिससे वह चींटी उस महाकाय ईजन पर भी अपनी विजय पताका फहराती हुई नजर आती है।

इस प्रकार मानवजीवन के मूल में ही यद्यपि अस्तित्व संपूर्ण की प्रवृत्ति पाई जाती है, तदपि मानवयोनि में पहुँचकर इसमें एक परिष्कार यह भी हो जाता है कि इस अस्तित्व के लिए जो संघर्ष किया जाता है तो उसका चरमोद्देश्य क्या है? अर्थात् क्या मात्र शरीरादि की रक्षा करना ही मानव का एकमात्र जीवन का लक्ष्य है अथवा इससे भिन्न कुछ अन्य? क्या शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक स्तरों पर ही संघर्ष करना चाहिए या इससे भिन्न किसी अन्य हेतुओं सभी मानवीय अस्तित्व बचाया जा सकता है? या मानवीय अस्तित्व का संघर्ष कहला सकता है? ये सभी प्रश्न मानव को निरन्तर झकझोरते ही रहते हैं और

इसे उत्तर देने के लिए समाधान देने के लिए प्रेरित करते ही रहते हैं। समय-समय पर विश्व के विचारकों ने अपने-अपने समाधान अपनी-अपनी दिशा-काल व निभित्त की परिस्थितियों के अनुसार प्रस्तुत भी किए है और उनकी तर्कसंगत मीमांसा भी की है। तदनुसार सभी अतीतानगत व वर्तमान के विश्व विचारकों का एतत्सम्बन्धी अवलोकन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि मानवजीवन में जब तक गुणातीत अवस्था की प्राप्ति के लिए प्रयास का आरम्भ नहीं हो जाता तब तक उसके अस्तित्व का संघर्ष विद्यमान रहता है। क्योंकि शारीरिक स्तर से ऊपर उठे बिना त्यागभाव की सिद्धि या कल्पना साकार नहीं हो पाती। यही कारण है कि विश्व साहित्य में हम सभी युगों में त्याग के महान् आदर्श का गुणगान व स्तुति अत्यन्त उत्साह व अधिकार के साथ करते हुए मानव समाज को देखते हैं, एक छोटे से छोटे प्राणी के जीवन के लिए अपने प्राणों के उत्सर्ग करने वाले भगवान् बुद्ध तथा प्राणीमात्र की सुखकामना से तथा अपने सम्प्रदाय की शुभकामना से सूली पर चढ़ने वाले ईसामसीह को किस जीवनशक्ति ने कहा था कि अपने अस्तित्व को इन प्रणियों के कल्याण हेतु न्यौछावर कर दो?

अतः मानवजीवन का उक्त भगवान् बुद्धादि का त्यागमय स्वरूप यद्यपि ज्ञानपक्ष से सम्बन्ध रखने वाला है, तदपि अज्ञानपक्ष का मार्गनियामक भी यही बनता है इसमें संदेह नहीं करना चाहिए। इस प्रकार, मानवजीवन अज्ञानपक्ष में रहकर ही सलतस्वात्म सत्ता के संघर्ष में ही विद्यमान दिखाई पड़ता है और उसी कारण उसे जीवन एक सतत युद्ध भी अनुभव होने लगता है। यद्यपि वस्तुस्थिति भी यही होती है तदपि युद्ध किस लक्ष्य के लिए? केवल यही एकमात्र प्रश्न सम्पूर्ण संघर्ष का ही दिशानिर्देश कर देता है। परन्तु मानवजीवन एक विराट् संघर्ष का पयार्य है, इसमें किसी भी विचारक की विमति नहीं रही है, थी व रहेगी।

(ङ) शान्ति की खोजः

मानवजीवन का उत्स ही जब रजोगुण है तो यह भी सैद्धान्तिक रूप से सिद्ध हो जाता है कि वह सदैव गति में भी निवास करने वाला

प्राणी है, तथा जबर तक गति का अस्तित्व विद्यमान होता है तबतक स्थिति स्थिरता की कल्पना करना भी हास्यास्पद ही होगा। क्या पंखे की गति की तुलना छत की स्थिति से उसकी गमनावस्था में की जा सकती है? कदापि नहीं। उसी प्रकार मानवीय स्तर पर जीवन की अवस्था पूर्णतया स्थिति की दशा को तो कदापि प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि स्थिति की अवस्था सैद्धसन्तिक व व्यावहारिक रूप से गति से पूर्णतया विपरीत है और एक दूसरे की विरोधी भी है। यही कारण है कि विश्व के सभी विचारकों ने एक मत से स्थिति की अवस्था की प्राप्ति को ही मानवजीवन का एकमात्र लक्ष्य भी सहजता से ही घोषित कर डाला है। चाहे आस्तिक हों या नास्तिक कोई भी सुख-शान्ति का खण्डन नहीं करता। सभी अपने-अपने मार्गों से सुख व शान्ति की प्राप्ति का ही ढिंढोरा पटिते हुए दिखाई पड़ते हैं। चाहे प्रत्येक की सुख-शान्ति की परिभाषा प्रक्रिया में मतभेद रहे तदपि सुख शान्ति की जिज्ञासा का अभाव कदापि नहीं देखा जाता। विश्व की मानवता के सम्मुख यह सुख-शान्ति की खोज ही एकमात्र अज्ञान से ज्ञान प्राप्ति की ओर प्रेरित करने की मूलाधारशिला बनती है। शास्त्रों ने स्थितप्रज्ञ, निष्कामकर्मयोग, अनासक्तयोग इत्यादि साधनों के माध्यम से इसी मानवजीवन की स्थिति की अवस्था का ही व्यावहारिक स्तर पर किस प्रकार प्रकाशन किया जा सकता है, यह सिद्ध किया है। महाभारत के युद्धस्थल पर इसी शान्ति का प्रदर्शन श्री भगवान् व अर्जुन ने संसार के समक्ष करके यह प्रमाणिक कर दिखया था कि शान्ति की प्राप्ति यद्यपि दुरूह विषय है तदपि उसे इसी जीवन संग्राम में भी प्राप्त किया जा सकता है। यदि वह बिन्दु है कि जहाँ से समस्त संसार की शन्ति सम्बन्धी अवधारणाएँ भारतीय वैदिक सब धारणाओं से पृथक्-पृथक् हो जाती है। भारतीय वैदिक चिन्तन में शान्ति एवं उसकी खोज थी अवधारणा भी विश्व की अन्य अवधारणाओं से कुछ भिन्नता ही नहीं अपितु पूर्ण सैद्धान्तिक भिन्नता भी रखती हैं और यही उद्घोष करती है कि जीवन संग्राम में रहते हुए भी शान्ति की, शाश्वत् उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है, श्रीराम कृष्ण इत्यादि भगवद्यवतारों ने व सभी

साधु सन्तों व आचार्यों ने भी यही जीवन जीकर मानवता का साक्षात् पथप्रदर्शन करके भी दिखाया है।

अतः मानवजीवन में शान्ति की खोज का प्रश्न भी उसके अस्तित्व के प्रश्न की ही भान्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व परमावश्यक भी है।

2. जीव का स्वरूप

संसार में असंख्य और अज्ञात योनियों में जीव की योनि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

आत्मा आकाश की तरह सदैव, विभु एवं सर्वव्यापक है। वही इन्द्रिय, मन अहंकार तथा शरीर आदि की उपाधियों से घिरा हुआ एवं भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण किया हुआ जीव नाम से जाना जाता है। अतः घटपटाकाशादि की तरह एक होने पर भी उपाधि भेद से विविध जीवों के रूप में प्रतीत होता है।[1] परन्तु जीवगत अज्ञान के नष्ट होने पर पुनः अपने मूलरूप में भासित होने लगता है।[2]

आत्मा कर्तृत्व युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से उसकी मुक्ति असम्भव होती है।[3] कर्तृत्व सदैव दुःखद होता है जीव की कर्त्ता-भोगता होने से शुभ-अशुभ कर्म करता है। अतः मोक्ष संसृति चक्र में पड़कर फल भोगता है। अतः मोक्ष और बन्धन इसी के द्वारा होती हैं। यद्यपि चिदानन्दमय आत्मा होने के कारण यह अमर अजर आदि है; तथापि वासनाओं से भरे कर्मों को करने से उनका फल भोगने के लिए इसका दूसरा शरीर ग्रहण करना मृत्यु समझा जाता है। वास्तव में अन्तःकरण आदि उपाधियों का जन्म ही जीव की उत्पत्ति मानी जाती है; क्योंकि जब आश्रित वस्तुएं उत्पन्न होती है विलय होती है तो यहे कहा जाता है; कि

---

1. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
   भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ —भ॰गी॰, 18/61
   शां॰भा॰, 1-2-6 तथा 2-3.17
2. परमब्रह्म-अपहतपाप्मत्वादिधर्मकं तदेव जीवस्य
   परर्माथक स्वरूपंनेतरद् उपाधिकल्पितम्। —ब्र॰सू॰शा॰आ॰ 1-3, 19
3. न स्वाभाविक कर्तृत्वम् आत्मनः सम्भवति अनिर्मोक्षप्रसंगात्। —शा॰भा॰ 2-3, 40

आत्मा पैदा या विनष्ट हुई[1] जीव शरीर तथा इन्द्रियों के ऊपर शासन करता है। इसका सारतत्त्व आत्मा ही है, अतः यह भी विभु या व्यापक होता है, अणुरूप नहीं। यदि यह अणुरूप हो, तो शरीर के सब भागों से आने वाले संवेदनाओं का इसे अनुभव नहीं हो सकता था।[2] अतः जीव और आत्मा का अन्तर व्यवहारिक मात्र है पारमार्थिक रूप से नहीं। वास्तव में सब की हृदय–गुहा में एक ईश्वर ही स्थित होकर अपनी मायाशक्ति से सब जीवों को यन्त्रवत नचा रहे हैं और वह जीव भी उसी का रूप हैं अन्य नहीं।[3] यह आत्मा को देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि आदि से परे माना गया है। केवल उपाधियों के कारण ही शरीर नाम से अभिहीत होता है।[4] परन्तु यथार्थ में यह शुद्धचैतन्य सही है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। वहीं जीव अज्ञानी, स्थूल आकृति एवं दुर्बल है।[5] अतः जिस प्रकार विष साँप में रहते हुए भी उस पर कोई प्रभाव नहीं डालता है, उसी तरह माया ईश्वर की है तथा इसके सदा विद्यामन् रहने पर भी वे कभी मायाबद्ध नहीं होते।[6] आत्मा और अनात्मा में भेद न कर सकने के कारण जीव कष्ट भोगते हैं। अज्ञान की व्यष्टि उपाधि से उपाहित चैतन्य को जीव माना गया है।[7] वृहद्भागवदमृत अनुसार अजा, अज्ञेया (माया) अज्ञान की सृष्टि ब्रह्माण्ड है, जीव उसके अन्तर्गत है।

---

1. तस्माद् उपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वभाविकम्। —ब्र॰सू॰शां॰भा॰
2. शां॰भा॰, 2–3, 17
3. शां॰भा॰, 2–3, 29
4. (क) ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि
   मायया तथा क्षेत्रज्ञं चापि मो विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। —भ॰गी॰, 18, 61
   (ख) तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्व यद्विकारि यतश्च यत्।
   स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु॥ —भ॰गी॰, 13–3
5. पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धयुपाधिभिरवच्छिद्यमानो
   बालैः शारीर इतयुपचर्यत। —ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 2/2/6, भा॰व्या॰
6. (क) इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
   मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ —भ॰गी॰, 3–42
   (ख) बालै शरीर इम्पयुचर्यत। —क॰उप॰ 1–3, 10
7. रा॰कृ॰ली॰प्र॰, खण्ड 2, द्वि॰स॰, पृ॰ 383

स्वरूपः जीवन जीवन अणु होने पर भी सत् चित् और आनन्दमय यह जीव मनृष्य के रूप में अभिव्यक्त होकर नित्य आनन्दमय भगवान् के संग मिलने के लिए साधना में प्रवृत्त होता है। अनेक योनियों में भ्रमण करने पर जो मनुष्यदेह प्राप्त हेता है, यह सबसे श्रेष्ठ है। यह मनुष्य-देह की प्राप्ति देव-दुर्लभ है, क्योंकि साधना का मूल इस मानव- जीवन में होता है बद्ध जीव, को जब अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, तब मुक्त हो जाता है। जीव परम पुरुषोत्तम (भगवान्) के विभिन्न अंश उनकी तटस्थ शक्ति के विलास हैं। सूर्य और उसकी किरण जैसे स्वरूपतः अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न है, अग्नि और उसी प्रकार अंशी परमात्मा और जीव में भेदाभेद है। भक्तलोग जीव का अभिन्न होने पर भी भिन्न रूप में चिन्तन करते हैं। ये भेद मुक्त की अवस्था में भी रहता है।[1]

श्रीमद्भागवद् पुराण अनुसार जन्म-जरा और, मृत्यु सब कुछ अज्ञान अथवा मायिक है, तथापि इनसे भस्म- विभीषिका कम नहीं होती। भगवान् किपलमुनि माता देवहुतिसे जन्म-मृत्युका ऐसा ही रहस्य कहा है।[2]

जीव एक लोक से दूसरे लोक में जाता है,यह असम्भव नहीं है। वह अपने उपाधिमय लिङ्ग शरीर को धारण करके परलोकगमन करता है। नवीन देह में नवीन कर्मों में प्रवृत्त होता है। कर्मानुसार फल भोग करता है। उपाधिमय लिङ्ग शरीर तथा पाञ्च भौतिक इन्द्रियों से युक्त स्थूल शरीर-इन दोनों के जब एक साथ मिल कर कर्म करने के क्षमता नहीं रहता है; तब कहते है कि मृत्यु हो गयी है। लिङ्गशरीर और भोगायतन मन इन्द्रिय से युक्त स्थूल शरीर का एक साथ मिलकर प्रकट होना ही "जन्म" कहलाता है। इस जन्म के साथ एक अभिमान-अर्थात् "मैं हूँ" और शरीर है-इस प्रकार की एक अवस्था रहती ही है। तो कहा जाता है कि "मृत्यु" हो गई। एकादश इन्द्रिय और पञ्च तन्मान्नाएं इन सोलहर

---

1. अतस्तस्मादभिन्नास्ते भिन्नाऽपि सता मताः।
मुक्तौ सत्यामपि प्रायो भेदस्तिष्ठेदतो हि सः॥ —बृ॰भा॰, अ॰ 2/2/186
2. जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भास्तु सम्भवः॥ —भा॰पु॰, 3/31/44

पदार्थों के साथ सत्रहवां जीवचैतन्य मिलकर स्थूलशरीर में हर्ष शोष, भय, दुःख और सुख आदि विभिनन भावों कोर अक्रान्त होता है।[1] पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि वेदान्त में सूक्ष्म शरीर के ये ही सप्तदश अवयव कहे गये हैं।

जीवात्मा अजर, अमर एवं अविनाशी है। उसे अपने अनादि कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। उनके द्वारा वह शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगता है और पूर्व संस्कारों के अनुसार कर्म करता रहता है समय पाकर उनका वियोग हो जाता है। इस प्रकार जब तक जीव के कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं, तब तक जन्म-मरणरूपी संसृति (सृष्टि) चक्र चलता है। इन कर्मों का पात्र क्षय ज्ञान एवं प्रभु की पराभक्ति से कर्मों की निवृति एवं मुक्ति हो जाती है। जिससे पुनर्जन्म नहीं होता।[2]

जीवात्मा अपने पूर्व स्थूल-शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर को इस प्रकार धारण करता है, जैसे कोई जीवित व्यक्ति फटे हुए पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्रों को पहनता है।[3] आत्मा न कभी मरती है, न जलती है, न सूखती है, न गलती ही है।[4]

ब्रह्मसूत्र में भी वेदव्यासजी ने कहा कि भगवान् के पास भक्त एवं ज्ञानी जन अर्चमार्ग से जाते हैं और वे मुक्त हो जाते हैं। उनके कर्मबन्धन समाप्त हो जाते हैं। अतः पुनर्जन्म नहीं होता।[5]

---

1. अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चिति।
   हर्ष शोकं भयं दुःख चानेन विन्दति॥ —भा॰पु॰, 4/29/75
2. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरार्वतनोऽर्जुन।
   मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ —भ॰गी॰, 8/16
3. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानिगृहणाति नरोऽपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ —भ॰गी॰, 2/22
4. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ —भ॰गी॰, 2/23
5. अथैतयोः द्वयो नैकतरेण च न तानीमानिक्षुद्रमिश्राव्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेतयेतत् तृतीय स्यानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः। —छा॰उप॰, 5/10/8

(क) असाम्यता का कारण और भेदः-

हम संसार में देखते हैं कि कोई सुखी है, दुखी है, अमीर है, गरीब है, काला है, गोरा है, छोटा है या बड़ा है, कोई बुद्धिमान है, तो बुद्धिहीन। कोई भी यह नहीं चाहता कि मैं बुद्धिहीन बनूँ या निर्धन बनूँ। लोकिन ऐसा नहीं चाहते हुए भी ऐसे बन जाते हैं कुछ लोगों का यह मत है कि हमारे लौकिक प्रयत्न और उपाय जैसे होते हैं, बैसे ही हम बनते हैं। किन्तु संसार में हम देखते है कि उपायों को अपनाकर सतत प्रयत्न करते रहने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती।

भूमि को समान रूप से जोतते है; शास्त्रों को समान रूप से पढ़ते हैं, किन्तु भगवान् की लीला से डूबते और ऊपर उठते हैं अर्थात् कोई तो उन्नति को प्राप्त होते हैं और किसी की अवनति होती है। समान फल नहीं मिलता है।[1] शास्त्रों के अनुसार हम जो करते हैं और जो हमने किया है इससे संस्कार बनते हैं। वह ही पाप और पुण्य कहलाते है इससे यह अनुभव कर सकते हैं कि सुख-दुख यह सब हमारे किये का फल है। जैसे कोई नन्हा-सा बच्चा जन्म से ही स्वस्थ होता है और कोई माता का स्तन्यतक पीने में अशक्त क्यों होता है? इसने ऐसा कौन-सा कर्म किया जिससे वह सहजतया सुख या दुःख भोगे? उस नन्हे बच्चे ने इस समय तो कुछ किया नहीं होता और करने में असमर्थ भी होता है किन्तु उसने अपने पूर्व जन्म में अवश्य कुछ किया है जिसका वह फल भोगेगा। फिर समर्थ होने पर जो कुछ करेगा, उसका फल भी आगे अवश्य भोगता हे। फिर समर्थ होने पर जो कुछ करेगा, उसका फल भी आगे अवश्य भोगेगा। हमारे सुख-दुःख का कारण जन्म के कर्म होते है जन्म का कारण कर्म हैं और कर्मों से ही असाम्यता का कारण बनता है। कर्मों के कारण ही मनुष्य को इस संसार में बार-बार जन्म, बार-बार मरण, बार-बार माता गर्भ में रहना पड़ता है। इसलिये शङ्कराचार्य चर्पटपञ्जारिका स्तोत्र में भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि इस अपार भवसागर से वे ही पार उतारने में समर्थ हैं।[2] गीता में भी भगवान् ने कहा है कि! ....मैं न किसी

---

1. समं कषन्ति पृथिवी समं शास्त्राण्यधीयते।
   उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति दैवस्यैकस्य लीलया। —प॰लो॰, पृ॰ 1
2. पुनरपि जननं पुनरपि मरण पुनरपि जननी जठरे श्यनम्।
   इह संसारे खलुदुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे॥ —च॰प॰स्तो॰, श्लो॰ 9

से घृणा करता हूँ न प्यार। भगवान् तो कर्मफल दाता है कर्म के अज्ञान से ज्ञानके आवृत होने के कारण लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं। मोह से कर्म, कर्म से जन्म और जन्म से सुख-दुःख प्राप्त करते हैं।[1] और इन्हीं कर्मों के अनुसार मनुष्य निर्धन और धनवान् छोटा-बड़ा होता है। यह सब कर्मो पर आधरित है। यद्यपि भगवान् ने नाना वैचित्र्यसम्पन्न उच्च, नीचादि-भेद-भिन्न विश्व का निर्माण किया है, जिसमें कोई सुखी और कोई दुःखी है, अमृत और विष जैसी विषमताएँ हैं[2] तथापि उसमें किसी प्रकार का राग द्वेष और क्रूरत्व नहीं। क्योंकि प्राणियों की अनादि कर्म-वासनाओं को अपने उदर में समेटे महाअविद्या विविधताओं को जन्म देती जा रही है भगवान् का क्या दोष? जैसे किसी सभा में नियुक्त साक्षी या अध्यक्ष युक्तवादी का अनुमोदन और अयुक्तवादी का प्रतारण करता हुआ भी राग द्वेषपूर्ण या पक्षपाती नहीं होता, अपितु तटस्य और वीतराग ही माना जाता है वैसे ही परमेश्वर भी पुण्यवान् पर अनुग्रह और पापी का निग्रह करता हुआ भी मध्यस्थ ही सिद्ध होता है। वह तब अमध्यस्थ या पक्षपाती कहा जा सकता था, जबकि अकल्याणकारी पर अनुग्रह और कल्याणकारी का निग्रह करता, किन्तु ऐसा नहीं करता अतः उसमें वैषम्य दोष नहीं। इसी प्रकार समस्त प्राणियों का संहार कर देने पर भी वह निर्घृण (क्रूर) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रलय अवस्था है, जिसमें सभी प्राणियों के कर्म-बीज अवगुणित एवं कार्यक्षम हो जाता है अदुष्टों की अपेक्षा करने मात्र में ईश्वर का ऐश्वर्य वैसे ही व्याहत नहीं होता जैसे भृत्थो की सेवा के अनुरूप पुरस्कार या स्मृति प्रदान करने वाले गृहस्वामी का स्वातन्त्र्य समाप्त नहीं होता। कौषीतकि ब्रह्मण में कहा गया है कि ईश्वर ही जिव को देव-लोक में ले जाना चाहता है, उससे साधु(पुण्य-प्रद) कर्म एवं जिसको नरक लोक में ले

---

1. नादत्ते कस्यच्त्पिापं न सुकृतं विभुः।
   अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यान्ति जन्तवः॥ —गी॰ 5/15
2. काश्चिदत्यन्त सुखभाजः करोति देवादीन्, काश्चिदत्यन्त दुःखभाजः पश्वादीन्, काश्चिन्मध्यम भोगभाजो मनुष्यदीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमानस्येश्वरस्य पृथग्जनस्यैव रागेद्वेषोपपत्तेः। —ब्र॰सू॰, शां॰ भा॰, 2/1/34

जाना चाहता है, उससे असाधु (पाप-प्रद) कर्म कराता है। इस प्रकार ईश्वर में स्वयं अपनी राग-द्वेष-युक्तता सिद्ध नहीं होती है।[1]

पुण्य कर्म से पुण्य एवं पाप कर्म से पाप की प्राप्ति होती है ऐसा वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है।[2] ईश्वर में स्वतः विषम स्रष्टुत्व का अनुमान करना आगम प्रमाण से सर्वथा विरुद्ध है; क्योंकि उक्त आगमने ईश्वर में स्वतः विषमस्रष्टुत्व का निराकरण करने के लिए "कर्म कारयित्वा सृजति"- ऐसा कहा है, अर्थात् प्राणियों के अदुष्टों का अनादि प्रवाह माना जाता है; अपने- आप किसी से कुछ नहीं कराता। जीवों के शुभाशुभ कर्मों से जनित अदुष्टों के अनुरूप ही ईश्वर सृष्टि और प्रलय करता है, फिर वह दोषी क्यों होगा? यदि कहा जाये कि जगत् में ईश्वरकारणत्व का निषेध नहीं किया जाता, केवल वैषम्य की सिद्धि की जाती है, तब प्रश्न उठता है कि इससे क्या होगा? ईश्वर सर्वथा अविद्यादि कलेश और उनकी वासनाओं (संस्कारों) तथा तज्जन्य फलों से रहित है। जैसा कि मर्हष पतज्जलि जी ने कहा है।[3] रागादि रहित ईश्वर कि प्रतिपदिका अनन्त श्रुतियों के अनुरोध पर यह मानना होगा कि ईश्वर में कतिपय प्राणियों की जो उन्निषा या अघोनिनीषा उत्पन्न होती है वह उन प्राणियों के ही पूर्वकर्मों की प्रेरणा से ही होती है स्वतः नहीं जैसा कि कहा गया है जीव ने जो कर्म अपने पूर्व जन्म में दान, अध्ययन और तप किया होता है उसी के संस्कारों का पाथेय लेकर वह इस जन्म में आता है, अतः वैसा ही अभ्यास (पुनरावर्तन) करता रहता है।[4] ईश्वर तो केवल प्राणियों के सामूहिक अदुष्टों के आधार जगत् का सर्जन का देता है, उसकी विषमता में तो कर्मों के संस्कार ही प्रयोजक होते हैं। यह समाधान तो सृष्टि को तात्त्विक मान कर किया गया है। वस्तुतः सृष्टि मायामयी

---

1. एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेस्यो लोकेभ्य उन्निनीषते।
   एष एवासाधु कर्म कारयाति, तं यमधो निनीषते। —कौ॰ब्रा॰, 3/8
2. पुण्यो वै पुण्येणकर्मणा भवति पापः पापेन। —बृहद॰उप॰, 3/2/13
3. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —योग॰सू॰ 1/24
4. जन्मजन्मयदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
   तेनैवाभ्यासंयोगेन तच्चैवाभ्यसते नरः ॥ —ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 2/1/34, सू॰ 34 भा॰टी॰

अनिवर्चनीया है। अतः मायाकार (जादूगर) के समान सकल (सर्वाङ्
और विकल (अपूर्ण प्राणियों की रचना करने पर भी ईश्वर में :
किसी प्रकार की विषमता सिद्ध होती है और न समग्र प्राणियों का :
कर देने पर नैर्घृण्य संसार का वैचित्र्य कर्मजन्य है, न कि ईश्वर की
पक्षपात।

भगवान ने गीता में भी कहा है कि जो जिस भाव से मेरी :
लेते हैं अथवा जैसे मानते हैं मैं भी उसी के अनुरूप ही फल देता
अव यहाँ पर शंका कि होती है कि द्वितीय सृष्टियों में पूर्वकर्म-ज
सम्भव होने पर भी प्रथम सृष्टि से पूर्व कर्त्ता, कर्म और करणादि- वि
का निषेध करती है।[2] इसका समाधान है कि "अनादित्वात"। अर्थात् :
अनादि है, इसकी कभी आदि (प्रथम) सृष्टि मानी ही नहीं जाती, :
पूर्व-पूर्व कर्मा के आधार पर ही उत्तरोत्तर सृष्टि का उच्चावचभाव स
हो जाता है।[3]

यदि संसार को अनादि न मान कां आदिमान माना जाता है
प्रथम सुष्टि के पहले पुण्यपापादि रूप कर्मों के न रहने पर इस ज
जीव को सुख-दुःखादि रूप्र फल का लाभ जो मिलता है
अकृताभ्यागम (कर्म किए बिना ही फल की प्राप्ति) है जैसा दोष
होता है। कर्म किए बिना ही जब उनका फल मिल जाता है,तब वि
निषोधात्मक शास्त्र निरर्थक और अप्रमाण हो जाते हैं, क्योंकि शास्त्र
द्वारा न किसी की प्रवृत्ति होती है और न निवृत्ति। केवल
निर्षेधात्मक कर्मकाण्ड का ही आनर्थकय नहीं होता, अपि तु मोक्ष- :
(वेदान्त शास्त्र) भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि कमों के बिना ही
संसार होता है, तब मुक्त पुरुषों को भी संसरण (जन्म-मरणादि
बन्धन) प्राप्त हो जायेगा।[5]

---

1. कर्मजं लोकवैचित्र्यं — अभि॰को॰, 4/1
2. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
   मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ —भ॰गी॰, 4/11
3. सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र
   आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत इति॥ —छा॰ 6/2/1
4. उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ब्र॰सू॰शा॰भा॰ अ॰ 2, पा॰ 1, सू॰ 36
5. आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोंद भूतिप्रसङ्गः।
   —ब्र॰भू॰श॰भा॰, अ॰ 2, 1॰

अतएव भाष्यकार ने कहा है कि वह प्रलय-प्रयोजिका अज्ञान को ध्यान में रखकर कहा है।[1] क्योंकि विक्षेप (सृष्टि) की प्रयोजिका अज्ञान कार्य (जन्य) होने के कारण अपनी उत्पत्ति में नियमतः अपने पूर्व संसाररूप विक्षेप की अपेक्षा करती है। विक्षेप यहां पर मिथ्या ज्ञान का नाम है, जिसकी दूसरी संज्ञा है- मोह। मोह सदैव पुण्य-पापरूप प्रवृत्ति हेतु भूत राग और द्वेष का कारण होता है। रागादि कार्यों से युक्त मोह सुख-दुःख रूप भोग के आयतन भूत शरीर के बिना नहीं हो सकता। राग-द्वेष और पूर्व शरीर के बिना मोहादि उत्पन्न नहीं हो सकते अतः पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर एवं पूर्व-पूर्व मोह की अपेक्षा उत्तरोत्ता शरीर का लाभ इस प्रकार बौद्ध सम्मत अविद्यादि बारह पदार्थों के समान अनादि भाव-परम्परा का अनुसरण करना आवश्यक है जैसा कि वसुबन्धु ने भी कहा है।[2] भाष्यकार यही कर रहे हैं[3] कि रागादि पद से राग, द्वेष और मोह का ग्रहण किया गया है, क्योंकि वे ही जीव को संसार रूपी दुःख का अनुभव करोकर क्लेशित (दुःखी) करने के कारण क्लेश कहे जाते हैं उन क्लेशों की जो वासनाएं (संस्कार) है, उनके द्वारा आक्षिप्त (प्रर्वतत) कर्मों से युक्त होकर ही लयात्मिका अज्ञान विश्व की विषमताओं को जन्म देती है। इसी श्रुति में 'जीव प्राणधारणे' धातु से निष्पन्न जीव पद के द्वारा जो आत्मा का व्यवहार किया गया।[4]

(ख) मलत्रयः

अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान न होना ही अज्ञान (मल) माना गया है। वास्तव में ईश्वर सर्वथा परिपूर्ण शुद्ध असीमित, असंकुचित एवं स्वतन्त्र संवित् रूप ही हेता है।

---

1. नचाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्। —तदेव
2. क्लेशकर्म हेतुकं जन्म तद्धेतुकानि पुनः क्लेशकर्माणि, तेभ्यः पुनर्जन्मेत्यनादिभवक्रकं वेदितव्यम्। —अभि॰को॰भा॰, पृ॰ 130
3. रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्।
—ब्र॰सू॰शा॰भा॰, अ॰ , पा॰ 1, सू॰ 36
4. सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। —छा॰उप॰ 6/3/2

परन्तु अपने स्वातन्त्र्य विलास से जब अपने पारमार्थिक स्व
एवं विमर्श में संकोच का अभिनय सा प्रारम्भ करता है अर्थात् एक से
(अहं और इंद) का चित्रण करता है– जिसने दो समझते हुए भी एक
का ज्ञान रहता है तब उसकी ज्ञान और क्रिया शुद्ध कहलाती है। ज
अनेकता में अर्थात् अहं से इदं को पूर्णतया पृथक् अनुभव करता है;
ये ज्ञान और क्रिया अशुद्ध कहलाती है। ये पूर्ण शुद्ध ज्ञानक्रिया
शक्तियों का शुद्ध अथवा निष्कृष्ट अशुद्धता को धारण कर लेना
संकोच अभिहित होता है।[1] इस प्रकार ईश्वर से अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति
द्वारा अवभासित स्वरूप गोपनारूप महामाया के माध्यम से अप
असीमितात्मा का अनाश्रितशिव प्रभृति मायाप्रमात्रन्त अवभासित कर
संकोच कहलाता है। यही शिवाभेद–अख्याति रूप अज्ञान अथवा संकुचि
ज्ञान बन्धन कहा जाता है।[2] यही पुर्ण स्वरूप का अज्ञान ही "मल"
कहा जाता है जो संसारी भाव का कारण है। इसी अज्ञान के का
प्राणियों का बन्धन बन जाता है और उनकी सृष्टि स्थिति एवं संहति हो
है।[3]

प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस अज्ञान को ज्ञान का अभाव रूप नहीं म
गया है।[4] प्रत्युत ज्ञान के परिच्छिन्न रूप को ही मल, जड़ता अथ
अज्ञान कहा गया है।[5] स्वात्मा के रूप एवं शक्तियों के संकोच में त्रिवि

---

1. स परमात्मा चिद्रूपों विमर्शाख्येनैव मुख्यस्यभावेनाव्याभिचारिणा महेश्वरश्चित्त
विश्वात्मनः, शिव संज्ञस्याहविमर्शनमेते शुद्धे ज्ञानक्रिये, भिन्ना भिन्नकार्ये
त्वीश्वरस्य शुद्धाशुद्धे भिन्नार्थाविषयत्वे पुसं सत्वरजोवृत्ति रूपे प्रकाशप्रवृत्तिसज्ञे त
संकुचिते अशुद्धे एव। —ई॰प्र॰का॰वृ॰प्र॰ 36
2. यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूप–गोपनात्मिकया महामायाशक्त्या..
......शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावो..........सुंचितज्ञानात्मा बन्धः।
—शि॰सू॰वि॰, पृ॰
3. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराकुरकारणम् मावि॰ एवं अज्ञानाद्बध्यते
लोकस्ततः सृष्टिश्चसंहन्ति। सर्वाचार —शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 16
4. (क) प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽथौ नाप्रकाशश्च सिद्धार्थ। —ई॰प्र॰का॰, 1/34
(ख) अज्ञानमिति न ज्ञानाभवश्चातिप्रसंगत। सहिलोष्टादिकेऽप्यास्ति न च तस्या
संसृति। अतोज्ञेयस्य .... भाषितम्। —तं॰आ॰ 1/25, 26
5. परिच्छिन्नप्रकाशत्त्वं जड़स्य किल लक्षणम्। तड़ाद्विलक्षणोबोधोयतो न परिमीयते॥
—बो॰प॰

मलों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है; जिन्हें आणव, मायीय और कार्म मल कहा जाता है:-

1. आणव मलः-

अनात्म वस्तु को ही आत्म- स्वरूप समझना अर्थात् अपनी यह प्रकाश रूपता को भूल कर शून्य प्राण बुद्धि अथवा शरीरादि में ही अहन्ताभाव मान लेना एवं ऐसे जड़ भावों में ही अपने कर्तृत्व को सीमित कर देना "आणव मल" अभिहित होता है।[1] जब परमात्मा अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति निमज्जित करके भदेव्याप्ति का अवलम्बन करता है, तब वास्तव में अप्रतिहतरूपा इच्छाशक्ति संकुचित होने पर आणव मल बन जाती है।[2] जिससे जीव अपने पूर्ण स्वरूप को भूलकर अपूर्ण को ही अपनी आत्मा मान लेता है। यह अपूर्णता अथवा आणव मल दो प्रकार का कहा जाता है। एक में तो प्रकाशरूपता (चिदात्मा) के होने पर भी अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति का विज्ञानकलों की भांति ज्ञान न होने से अपूर्णता प्रतीत होती है। दूसरे में प्रलयकलों की भांति कर्तृता होने पर भी चिद्रूपता की अनुभूति न होने से अपूर्णता रहती है। इन दोनों प्रकारों से स्वरूप का ही संकोच होता है।[3] अतएव यह आणव मल कहलाता है, क्योंकि इसमें जीव अपनी शिवात्मकता अर्थात् पूर्णता का अनुभव न करके अपूर्णता (अणुता) का ही बोध करता है।

2. मायीय मल :-

अपने से सर्वथा अभिन्न परमात्मा एवं अन्य जागतिक पदार्थों को भिन्न समझना अर्थात् संकुचित भेद दृष्टि का अपनाना "मायीय मल" कहा जाता है।[4] ज्ञानशक्ति ही क्रम से संकोच के कारण भेद दशा में

---

1. शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमल। -शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 16
2. तथा च अप्रतिहतसवातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचिता
   सती अपूर्णमन्यतारूपम् आणवमलम्। -प्र॰हृ॰, पृ॰ 65, 66
3. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्बोधता।
   द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ -ई॰प्र॰का॰, 3/15
4. भिन्नवेद्य प्रथात्रैव मायारव्य। -ई॰प्र॰का॰, 3/16

सर्वज्ञत्व से किञ्चिज्ज्ञत्व को प्राप्त होकर अन्तः करण-बुद्धीन्द्रियों के रूप में अत्यन्त संकुचित होकर भिन्न वेद्यप्रथा रूप मायीय मल बन जाती है।[1]

3. कार्म मलः-

अपने आप को पूर्ण न समझना एवं दूसरों से सर्वथा पृथक् समझने के कारण वह अपने पूर्ण कर्तृत्व को भूलकर संकुचित शरीरादि की क्रियाओं में अपना अभिमान करने लगता है। इस सीमित शुभाशुभ कर्तृत्व एवं इसके संस्कारों से जकड़ित हुआ शुभाशुभ योनियों में संचरण करता रहता है। अतः यह शुभाशुभवासनात्मक ज्ञान ही "कार्ममल" कहलाता है।[2] भेद दशा में परमेश्वर की क्रिया शान्ति ही सर्वकर्तृत्व से अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होकर कर्मेन्द्रियों के रूप में अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कार्म मल बन जाती है।[3] ये तीनों ही मल परमेश्वर की स्वेच्छा से (माया) अज्ञान शाक्ति द्वारा अवकल्पित होते है।[4]

अतः इस प्रकार माया एवं उसके पाँच कञ्चुकों द्वारा आवेष्टित होकर चित्-आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया अथवा सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियों का संकोच ग्रहण करके कला, विद्या राग, काल और नियति आदि रूपों को धारण करना ही शिव का पशुभाव (बन्धन) कहलाता है। इस प्रकार शुद्ध चिद्रूप और उसकी शक्तियों में संकोच आने से मलयुक्त हुआ वह संसारी हो जाता है।[5] चिति भगवती अपनी सार्वभौम चैतन्यता की अनुभूति को सीमित अनुभूति वाले चित्त रूप में अभिव्यक्त करदेती है।[6] जिससे असीमित ज्ञान क्रिया और अज्ञान (माया) शक्तियाँ सीमित सत्त्व, रजस और तमस्

1. ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञावाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्तपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 66
2. क्रियाशक्ति क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः क्रर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तपरिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कर्ममलं। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 66
3. जन्मभोगद! कर्तर्यबोधे कार्म तु। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 66
4. तन्मलयत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते। —ई॰प्र॰का॰वृ॰, पृ॰ 65
5. चिद्वत् तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। —प्र॰हृ॰, सू॰ 9
6. चितिरेव चेतनपदादवरूढ़ा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। —प्र॰हृ॰, सू॰ 5

ण बन जाती है।[1] सृष्टि, स्थिति संहार तिरोधान और अनुग्रह रूप ञ्चकृत्यों की अनभिज्ञता से प्रमाता अपनी ही शक्तियों द्वारा विमोहित आ बन्धन में फंस जाता है।[2] परन्तु उनके परिज्ञान में चित्त अन्तर्मुखी ाव से युक्त हुआ सार्वभौम चैतन्यारूढ होने से चिति बन जाता है।[3]

ग) सप्त प्रमाता :

कश्मीर शैव दर्शन के अनुसार एक ही परमार्थ सत्ता है, जो शिव ौर शाक्ति का सामरस्य मानी जाती है। जिस प्रकार जल से उसकी ीतलता,अग्नि से सकी उष्णता को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी कार शिव और शक्ति को भी पृथक् नहीं किया जा सकता है। यह ाव और शक्ति की पृथक् नहीं किया जा कता है। यह शिव और क्ति ही विश्वोत्तीर्णता वह दशा है, जिस में समस्त जगत् तथा त्तप्रमाता प्रकाशरूप में उनमें विद्यमान रहते हैं।[4] जैसे अग्नि में लकड़ी लने से वह भी दशा है, जिसमें वह सप्त प्रमाता और छत्तीस तत्त्वों के प में आभसित होती है। वास्तव में सात प्रभाताओं तथा छत्तीस तत्त्वों ा परस्पर सम्बन्ध ऐसा है जिस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता । शिवता के उत्कर्ष-अपकर्ष के तारतम्य की दृष्टि से सात प्रमाता माने ो हैं:-

शिव प्रमाता :-

सबसे ऊँची श्रेणी के प्रमाता 'शिव प्रमाता' कहलाते हैं। मल से हेत होने के कारण इन्हें 'अमल' की कहते हैं। यह शिव प्रमाता शिव र शक्ति का अद्वयस्त्प है। शिव के बिना शक्ति का और शक्ति रहित व का कोई अस्तित्व नहीं अर्थात् शक्ति रहित शिव 'शव' है। वास्तव

स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञान क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशो सत्व रजस्तमः॥

—ई॰प्र॰का॰ 4/4

तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्। —प्र॰हृ॰, सू॰ 12

तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखी भावेन चेतनपदाध्याराहात् चितिः। —प्र॰हृ॰, सू॰ 13

(क) तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुष प्रकाशैकरूपा एव भावा।

—प्र॰हृ॰, पृ॰ 50

(ख) श्री मत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलं अभेदेनैव स्फुरति। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 51

में शिवतत्त्व तथा शक्ति तत्त्व नित्य तत्त्व हैं। केवल औपचारिक रूप
इन्हें पृथक्-पृथक् कहते हैं।

इस श्रेणी के प्राणी पूर्ण अभेद की भूमि पर स्थिर रहते हैं। इ
अपनी परिपूर्णता का सतत आभास होने के कारण परमेश्वरता व
विमर्श भी होता रहता है। ये परिपूर्ण जगदनन्दु के समुद्र जैसे होते हैं औ
इनमें उस आनन्द की अनन्त लहरें असंख्य प्रकार से बहिर्मुख औ
अन्तर्मुख उभयाकार स्पन्दन करती रहती है इसके ठहरने का स्था
शिवतत्त्व और शक्ति तत्त्व है। शिवतत्त्व के अनुभाविक को 'शाम्भव
प्राणी कहते हैं।[1] जगत् लीला के समय शिव और अपने आप क
अव्यक्त करना चाहते हैं। इसलिए उनका जो सर्वप्रथम रूप है, उसमें व
निषेध व्यापार कर देते हैं। इस प्रकार यह 'शिवतत्त्व' कहलाते हैं। इ
शिव तत्त्व का रूप "प्रकाशमय" है। इन्हें अपनी प्रकाशरूपता क
चमत्कार अधिक प्रधानता से होता रहता है। इसके अधिष्ठाता व
'भट्टारक शिव' कहते हैं। इसमें चित् शक्ति की प्रधानता रहती है। इ
'अकल' प्राणी भी कहा जाता है। शिवतत्त्व में निषेध व्यापार करने वा
तत्त्व की अभिव्यक्ति 'शिवतत्त्व' प्राणी कहते हैं। इन्हें अपनी विशर्मरूप
का ही चमत्कार प्रधनतया अधिक होता रहता है। यह (शक्ति) परमेश्व
का स्वभाव है तथा परा, पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी आदि शक्ति वर्ग
रूप में स्फुरित होने वाली संवित् है।[2]

दोनों प्रकार के इन अकल प्राणियों को सदैव ही अपने परिपू
"अह" ही का आभास होता रहता है। इनका अस्तित्व "अहं अस्मि" हो
है। इन प्राणियों को 'अकल' प्राणी इसलिए कहा जाता है क्योंकि
कलातत्त्व से ही अनय मायीय तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गई है। अत

---

1. अथ च तत्त्वेश्वराः-शिवशक्तिसदाशिवेश्वरानन्ताः। ब्रह्मेव निवत्तौ।
एषां सामान्यरुपाणामनुगतिविषयाः पञ्च। तद्यथा-शाम्भवाः
शाक्ताः, मन्त्रमहेश्वराः, मन्त्रेश्वरा, मन्त्रा (विद्येश्वरा) इति शुद्धाध्वा।
—त०स०, पृ० 74,

2. विश्वामित्का तदुत्तीर्णा हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्ती सविदंनुमः॥ —परा०प्रा०, श्लो० 1

शरीर, इन्द्रिय, अन्तः काण आदि सभी बन्धन कला के ही विकार होते हैं। ये शुद्ध प्राणियों में किसी भी प्रकार का काई मल नहीं होता। जो शाम्भव तथा शाक्त प्रमाता हैं, इनके सम्मिलित रूप को ही शिव प्रमाता कहते हैं।

2. मन्त्र महेश्वर :-

शिव और शक्ति तत्त्व के पश्चात् सदाशिव तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में यही वह बीज है, यहाँ से और शक्ति के सतत आभासमान होने के कारण प्रथम सृष्टि होती ह जिससे सत् का ज्ञान होता है। इसीलिए इसे सादाख्य तत्त्व भी कहा जाता है।[1] यह अकल प्रमाता से निम्न श्रेणी है। इसके अधिष्ठाता 'भट्टारक सदाशिव' होते हैं। प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं तथा उन्हें 'अहं-इदं' का अनुभव होता है, अर्थात् "मैं ही प्रमेय तत्त्व हुँ" ऐसा अनुभव होता रहता है।[2] जिसमें प्राधान्य तो "अहं" का ही रहता हैं किन्तु 'इदं' 'अहं' जगत् का द्योतक है। यद्यपि यहाँ पर 'इदं' जगत् का द्योतक है। यद्यपि पर 'इदं' 'अहं' से पूर्णतः भिन्न नहीं होता! 'अहं' चेतन प्रमाता का द्योतक है तथा 'इदं' रूप जगत् का स्वरूप अंकुरित हो रहा होता है तथापि मन्त्रमहेश्वर इसे अपना ही रूप समझता है। यहाँ पर जगत् अस्फुट रूप से प्रतिभासित होता है।

मन्त्रमहेश्वर भेद की छाया से युक्त अभेद के दृष्टिकोण से देखते हैं। इनमें भी कोई मल नहीं होता, किन्तु विश्व अस्फुट रूप से भासित होने के कारण मन के विकास के प्रति एक प्रकार की उन्मुखता जैसी मन्त्रमहेश्वरों में माना जा सकती है। इसलिए इनको न ही पूरे समल और न ही पूरे निर्मल माना जा सकता है। तभी इन्हें शुद्धाशुद्धप्राणी कहा जाता है। मन्त्रमहेश्वर प्रायः सतत् गीत से शिवसमावेश के चमत्कार में ही मस्त रहते हैं। और इन्हें विश्व का विश्व- सिसृक्षा के लिए अन्तः निमेष होता है।[3]

---

1. सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्। —ई॰प्र॰वि॰भा॰, पृ॰ 191
2. ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो यो मन्त्रमहेश्वराख्यः, तस्य प्रथमसृष्टावस्माकमन्तःकरणैकवेद्य-मिव श्यामलप्रामुन्मीलितमात्रचित्रकल्पं यद्भावाचक्रम् तथा संहारे ध्वंसोन्मुखतया तथा भूतमेव चकास्ति प्रतिबिम्बप्रायतया तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशस्य भावराशेः तथा प्रथनं नाम यच्चिद्विशेषत्वं तत् सदाशिवम्। —ई॰प्र॰वि॰, 3-1-2
3. निमेषोऽन्तः सदाशिवः। —ई॰प्र॰का॰, 3/3

3. मन्त्रेश्वर :-

तीसरी श्रेणी में ईश्वरतत्त्व में ठहरने वाले 'मन्त्रेश्वर नाम के प्राणी आते हैं। सदाशिव के बाद इस तत्त्व के अधिष्ठाता को 'भट्टारक ईश्वर' कहते हैं, जो माया से अतीत होते हैं एवं परमेश्वर के लीलावश अवतारस्वरूप होते हैं। मन्त्रेश्वर भी प्रमेय अंश को की ही दृष्टि से देखते हैं परन्तु उन्हें प्रमेय भाव का आभास स्फुटतायों हुआ करता है और प्रमातभाव उस स्फुट प्रमेयभाव का विशेषण-सा बना रहा है। राजानक आनन्द के अनुसार प्रमेय समूह अधिक स्फुट होने से इसमें ज्ञान शक्ति का प्राधान्य रहता है।[1]

यहाँ का दृष्टिकोण "इदं-अहं" होता है।[2] अर्थात् "प्रमेय पदार्थ मैं हुं।" मन्त्रमहेश्वर के विपरीत इसमे "इदं" का ही अंश प्रधान और उद्देश्य बना रहता है और "अहं" का अंश अप्रधान रूप से प्रकाशित होता है। इनमें कोई मल नहीं होता। इनकी समलता इतनी ही हतनी ही होती है कि इनमें भेद का बीज अंकुरित-सा होने लगता है।[3] इस अवस्था में विश्व का परामर्श स्पष्ट होता है, किन्तु उसका "अहं" से तादात्म्य रहता है।

मन्त्रमहेश्वर तथा मन्त्रेश्वर का स्वरूप शुद्ध संवित् होने के कारण इनका व्यवहार केवल इच्छामात्र से ही होता है। जिस प्रकार शिव की इच्छा अनिरुद्ध और सदा सफल बनी रहती है, उसी तरह से इन दोनों श्रेणियों के प्राणियों की इच्छा सफल बनी रहती है।

4. "मन्त्र" प्रमाता :-

मन्त्र नामक प्राणी या निछेवर चतुर्थ श्रेणी में आते हैं। ये प्राणी उस शुद्धविद्या में ठहरते हैं। जिसे महामाया भी कहा जाता है। इस शुद्धविद्या पर्यन्त समस्त परामर्श होता है, इसलिए इसे "शुद्धाध्वा भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ तक महेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं हुआ होता है।

---

1. अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः। —षट्०त्रि०त०स०वि०, पृ० 4
2. भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंश निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम् इदमिति। —त०आ०वि०भा० 6, पृ० 50
3. ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ता सामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविद्य एव ईश्वरभट्टारकधिष्ठिते। मन्त्रेश्वरवर्गः। —प्र०हृ०, पृ० 50

इसमें 'अह' और 'इद' दोनों परामर्श तुल्यरूप से भिन्न प्रतीत होते हैं। ये शुद्ध प्रकाश को अपना स्वरूप और शुद्ध विमर्श के ऐश्वर्य को अपना स्वभाव समझते हैं। यहाँ अनन्त भट्टारक' अधिष्ठाता होते हैं। और प्रमाता 'मन्त्र' कहलाते हैं। इनका परामर्श "अहमिदमस्मि" होता है। परन्तु ऐसा होते हुए भी दूसरे प्राणियों को, परमेश्वर के तथा प्रमेय जगत् को अर्थात् इंद' को अपने से भिन्न समझते हैं। इन्हें प्रमेय के विषय में "अह्म इद्म" आभास होता रहता है अर्थात् यह मैं हूँ और यह यह है। इनमें शुद्धस्वरूप होते हुए भी भेदृष्टि हो जाती है और यही मायीय मल है और यही एक मल है और यही एक मल इन प्राणियों में रहता है।[1] इन प्राणियों की गणना शुद्धाशुद्ध कोटि में करने के कारण अविकसित माया को महामाया कहा जाता है।[2] भेददृष्टि के होने पर भी यह परमेश्वर के समान चलते हैं तथा यही उनकी परेश्वरता हैं।

अकल से लेकर मन्त्र तक के इन चार वर्गों के प्राणियों में जो स्पन्दशीलता होती है, यदि वह उनमें नही होती तो वह कुछ नहीं होते तो शून्य गगन की तरह जड़ पदार्थ मात्र ही होते। इसमें क्रिया शक्ति की प्रधानता होता है।

इन चारों वर्गों के प्राणियों का स्वरूप शुद्र चैतन्य होता है। स्थूल शरीर अन्तः करण आदि द्वारा वे काम नहीं करते, अपितु केवल एक मात्र चैतन्य के स्पन्दन से ही व्यवहार करते हैं। ये प्राणी श्वास, प्रश्वास, निद्रा, पिपासा आदि विकारों से सदा मुक्त रहते हैं। इसलिए शुद्धज्ञान और शुद्धक्रिया रूपी प्राणनशक्ति के क्षेत्र के अधिकारी होते हैं।

5. विज्ञानाकल :-

पाँचवीं श्रेणी के प्राणी विज्ञानकाल कहलाते हैं। इसका स्तर शुद्धविद्या से नीचे और माया से ऊपर है। ये अपने आप को शुद्ध और शून्य

---

1. येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्तोऽनन्ताद्या वर्तन्ते।
   ते हि शुद्धचैतन्यमात्रगृहीतात्मभावा स्वतस्तुभिन्नं
   वेद्यं पश्यन्ति यथा द्वैतवादिनामीश्वरः॥ —ई॰प्र॰वि॰, 3-1-6
2. तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वान्महामायेयं श्री वैरावादिगुरुभिरूपदिष्टा।
   —ई॰प्र॰वि॰, 3-1-6

प्रकाशात्मक ही समझते हैं। परन्तु अपनी विमर्शरूपता के ऐश्वर्य की अनुभूति इन्हें नहीं होती।[1] इस दशा के अनुभावक प्रमाता को विश्वेश्वर अथवा विज्ञानाकल कहा जाता है। इसका अनुभव 'अहं इदं' होता है, दोनों में ऐक्स की प्रतीत होती है। इनमें 'क्रियाशक्ति' की प्रधानता होती है। परमेश्वर ने अपने स्वभाव के क्रियात्मकता का अंश इनमें छिपा कर रखा होता है। इसमें आणवमल का उदय हो जाता है। मायीय मल के भी थोड़े से अंश की स्थिति इनमें मानी जाती है, कार्ममल, इनमें नहीं होता।[2] इन प्राणियों में परस्पर भेद का आभास होता है।[3] अतः यह माया और शुद्धविद्या दोनों से भिन्न है। अद्वैत शैवों ने इस अवस्था को सांख्य और पुरुष और शून्यब्रह्मवाद के समान बताया है।[4] इन विज्ञानाकल प्राणियों को ऐश्वर्य की अनुभूति के न होने के कारण किसी भी भावात्मक आत्म- आत्म-आनन्द का आस्वाद प्रायः प्राप्त नहीं होता। इन्हें "विज्ञानकेवली" भी कहते हैं, क्योंकि स्वातत्र्य से रहित केवल विज्ञान ही इसका स्वरूप होता है।

6. प्रलयकाल :-

छठी श्रेणी के प्राणी प्रलयाकल कहलाते हैं। माया में स्थित भी कहा जाता है। इस दशा में भेद प्रधान रहता है। तथा प्रमाता अपने को दूसरे से भिन्न समझता है। यह प्रमाता शुद्ध प्रकाश को अपना आप न समझकर जड़ात्मक शून्य को ही 'अहं' समझ बैठते हैं, अतः दोनों प्रकार का आणव मल, कर्मों के संस्कार से कार्ममल एवं वेद्य के योग अथवा अयोग से मायीय मल विकल्प से होता है।[5] न तो उसे 'अहं' की ही स्पष्ट चेतना होती है। और न ही 'इदं' की अतः उसकी चेतना शून्यता प्रधान होती है। भेद बुद्धि होने के कारण वह (प्रमाता) स्वत्व को भूलकर

1. विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यविरहितमेषामिति। —ई॰प्र॰वि॰, 3-2-8
2. कार्ममलास्पर्शी विज्ञानकेवलिरूप। —शि॰दृ॰दृ॰, पृ॰ 32
3. बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता।
   तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः॥ —ई॰प्र॰, 3-2-8
4. शुद्धबोधानां .... ते च सांख्य पुरुषप्राया विज्ञानकला उच्यते॥
   —ई॰प्र॰का॰वृ॰, पृ॰ 65, 66
5. शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।
   तेषां कार्ममलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः॥ —ई॰प्र॰का॰, 3/14

शरीरादि से तादात्म्य करने से सुप्त-सा (अणु) हो जाता है।[1] ये प्राणी प्रायः सुषुप्ति की दशा में पड़े रहते हैं। यह सुषुप्ति दो प्रकार की हाती है। एक प्रकार की सुषुप्ति का प्राणी या तो बुद्धितत्त्व में या प्राणतत्त्व में विलीन होकर रहता है। उस दशा में सूक्ष्मतर सुख, दुःख आदि का या तन्द्रा, श्रम की अस्फुट सी अनुभति भी साथ रहती है। सुषुप्ति से जागकर प्राणी को यह स्मृति होती है कि "वह बड़े सुख में सोया" इत्यादि इस सुषुप्ति को संवेद्या सुषुप्ति होती है। कि "मैं इतनी प्रगाढ़ निद्रा में सोया था कि कुछ स्मरण नहीं रहा।" इस सुषुप्ति को अपवेद्या सुषुप्ति कहा जाता है। माया के कारण इन प्रमाताओं के "सवीपंद" नहीं की अनुभव होता है।[2]

सकल प्रमाता :-

प्रकृति पुरुष की दशा में चैतन्य रूप आत्मा पाँच कञ्चुकों से और माया से आवरणित हो जाता है इस दशा के प्रमाता होते हैं। माया से लेकर पृथ्वी तक क प्रमाता इस श्रेणी में आते हैं। सकल का अनुभव नानात्व का रहता है। ये संसार को दृष्टि से सदा देखते रहते हैं। संकुचित कर्तृत्व के अभिमान से तथा कर्मवासना से घेरे ही रहते हैं। इस तरह से इनमें पूरे विकास को प्राप्त हुए तीनों मल रहते हैं।[3] चींटी से लेकर देवता पर्यन्त सभी स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को धारण करने वाले सभी प्राणियों को 'सकल' कहते हैं। स्थूल जगत् स्वप्नात्मक सूक्ष्म सृष्टि में कर्म करते हुए और अपने कर्मों के अनुसार सुख- दुःख भोगते हुए भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म-मृत्यु को प्राप्त करते रहते हैं।

---

1. (क) सुप्तस्थानीयमणुज्। —तं॰सा॰आह॰ 8
   (ख) भेदे त्वेकरसे भातेऽन्तयानात्मनीक्षिते।
   शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते॥ —ई॰प्र॰का॰, 3/8
2. तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्तयः।
   संकोचं गृह्णानां यथाक्रम कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति॥
   —प्र॰ह, पृ॰ 66
3. देवादीनां च सर्वेषा भविनां त्रिविध मलम्।
   तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्॥ —ई॰प्र॰, 3-2

द्वितीय अध्याय
विविध मतों में ज्ञान एवं माया

1. वैदिक विचारधारा :-

वेदादिशास्त्रों से लेकर अर्वाचीन सभी दार्शनिक प्रस्थानों पर्य विस्तार से ज्ञान-अज्ञान के विषय में प्रत्येक युग के आचार्यों व विचारक ने विचार प्रस्तुत किया है। यहां विचारकों ने ज्ञान का अर्थ "विद्या" औ अज्ञान का अर्थ अविद्या अथवा माया ही कहा है।

ऋग्वेद में अज्ञान :-

ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल के 117वें सूक्त में आसुरी मा (अज्ञान) का वर्णन किया गया है। इस सूक्त का देवता भी माया अथ अज्ञान ही है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में बतलाया गया है कि विद्वानों मानसिक चक्षु से एक पतंग (जीवात्मा) को देखा, जोकि आसुरी अज्ञ से आक्रान्त है। विद्वानों ने कहा कि यह समुद्र के अन्तर्गत घटित हो र है। वे विद्वान् लोग विधाता की किरणों में जाने की इच्छा करते हैं।[1]

यहाँ पतंग को मायालिप्त जीवात्मा, समुद्र को परमात्मा औ विधाता की किरणों को परमात्मा के लोक के प्रकाश का प्रतीक कहा है जीवात्मा अज्ञान में आच्छन्न है, यह बात चिन्तन के द्वारा ही सम्भव है समुद्रवत् परमात्मा के बीच में ही जीवात्मा रहता है। परमात्मा व आलोकमय धाम में जाने से ही अज्ञान से मुक्ति मिलती है। सायणाचा ने अपने भाष्य में लिखा है कि अज्ञान से व्याप्त जीवात्मा व वेदान्तज्ञाता पुरुष अन्तर्मुखी स्थिति के द्वारा देखते हैं और परमात्म-साक्षात्का करते हैं। उनका कथन है कि उपाधि के परित्याग से जीवात्मा व परमात्मा के साथ साक्षात्कार होता है। सायणाचार्य के मन्त्रों में आए हु समुद्र शब्द को परमात्मा का प्रतीक मानकर उसे दृश्य जगत् व अधिष्ठान और जगत् को 'अध्यस्त' कहा है। अतः ज्ञानीजन सकल दृश

1. पतंगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यंति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अंतः क्वयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥ —ऋ॰वे॰, 10/177/1

जगत् के मिथ्या होने के कारण सत्-चित् सुखात्मक परब्रह्म की प्राप्ति की ही कामना करते हैं।[1] इस प्रकार शङ्कराचार्य का समस्त अद्वैत सिद्धान्त सायणाचार्य के इस मत में अन्तर्भूत हो जाता है। विल्सन ने भी उक्त मन्त्र पर विचार करते हुए अज्ञान को भौतिक जगत् की सृष्टि का कारण माना है।[2] ऋग्वेद के एक मन्त्र में अज्ञान का वर्णन इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में हुआ है। इन्द्र अज्ञान (माया) द्वारा अनेक रूप धारण करके यजमानों के सम्मुख उपस्थित होते हैं, क्योंकि इन्द्र के रथ में हज़ार घोड़े जोते गए हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में यजमानों के मायिक स्वरूप का वर्णन किया गया है। जो यजमान अभीष्टदाता इन्द्र के लिए गोओं के भोग्य द्रव्य को शीघ्र दुहते हैं, जिनके अनेक नाम हैं, उन्होंने नवीन असुर बल को धारण करते हुए तथा अज्ञान का विकास करते हुए अपने-अपने रूप को इन्द्र को सर्मपत किया है इस सूत्र के अन्य मन्त्र में जगत् के लोगों को माया भी कहा गया है। इस मन्त्र के अनुसार सारे मायावी लोग इन्द्र की नानाविद्य कींत देखते हैं।[3] एक मन्त्र में माया का प्रयोग वरुणादेव की महती 'प्रज्ञा' के अर्थ में हुआ है।[4] ऋग्वेद के एक मन्त्र में माया शब्द का प्रयोग 'प्रज्ञा' के अर्थ में किया गया है।[5] इस मन्त्र में मायावी का प्रयोग 'प्रज्ञावान' के अर्थ में मिलता है। एक ज्ञानी जन सोम की प्रज्ञा से अग्नि आदि संसार को बनाते हैं। सोम की प्रज्ञा से ही मनुष्य-दर्शक

---

1. समुद्रवन्त्यस्माद् भूतानीति समुद्रः परमात्मा। तस्मिन्नधिष्ठान भूतेऽन्तर्मध्ये सर्वदृश्य-जातमध्यस्तत्त्वेन विचक्षते विपश्यन्तीति। असौ दृग्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वाद वेधसो विधानारस्ते मरीचीनां वृत्तिज्ञानानां परमाधिष्ठानभूतं सच्चित्सुखात्मकं यत्परं ब्रह्मतदेवेच्छन्ति। तद्भवप्राप्तिमेव कामयन्ते। —ऋ॰वे॰, सा॰भा॰, 10/177/1

2ण पसेवद दवजमे 10.12.269 त्पहअमकं टवसण टएए च्ववदंण

3. विश्वे पश्चन्ति मायिनः कृतानि 3/38/9

4. इमामू ष्वांसुरस्ये श्रुतस्ये महींमायां वापास्य प्र वोचम्
माननैव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वियौ ममे पृथिवी सूर्येषा॥ —ऋ॰वे॰मं॰, 5/85/5

5. नु कवितामस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्रा न पृणन्त्येनीं रासिञ्चन्तीरवनय समुद्रम्॥ —ऋ॰वे॰, 5/85/6

देवों ने औषधियों में गर्भ धारण किया। इसी वेद में एक में इन्द्र के मायिक स्वरूप का वर्णन किया गया है।[1] वामदेवीय वृहुदक्थ ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुमने अपने शरीर को बढ़ाकर और अपने सारे कार्यों की घोषणा से जिन सब बलसाध्य व्यापारों को सम्पन्न किया वह सब अज्ञान मात्र है।[2]

एक मन्त्र में मित्रावरुण की माया का वर्णन है ऋषि अर्चनाना मित्रावरुण से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि तुम दोनों अत्यन्त राजमान, उद्यतबल, वारिवर्षक, द्यावापृथिवी के पति और सर्वद्रष्टा हों।

तुम दोनों विचित्र मेघों के साथ स्तुति, श्रवण करने के लिए आगमन करो। तदुपरान्त अपनी माया द्वारा घुलोक से वर्षा करो। इस प्रकार ऋग्वेद में माया शब्द का अधिकांशतः प्रयोग इन्द्रादि देवताओं की शान्ति और प्रज्ञा के अर्थ में ही अधिक हुआ है।

ऋग्वेद में 'माया' अथवा अज्ञान शब्द का प्रयोग 24 बार हुआ है।

"मायया" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 20 बार पाया गया है। प्रभुदत्त शास्त्री ने "मायया" शब्द का प्रयोग 19 बार ही बताया है। ऋग्वेद में माया के तृतीयन्त बहुवचन रूप मायाभिः का प्रयोग लगभग 13 बार किया है। परन्तु माया का प्रयोग इस संहिता में केवल 3 बार ही हुआ है।

"मायाम्" का प्रयोग भी ऋग्वेद में 3 बार ही हुआ है। माया शब्द के इन विभिन्न उक्त रूपों के अतिरिक्त मायी और मायावी शब्दों के

---

1. (क) अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा विर्भत भुवनानि वाजयु।
मायाविनोममिरे अस्य मायाया नृचक्षसः पितरो गर्भमा र्दधुः॥

—ऋ०वे०, 9/83/3

(ख) यदचरस्तन्वा वावृधानी वलानीन्द्र प्रवुवाणो गनेषु।
मायेत सा ते यानि युद्धन्याहु नद्यि शत्रुं ननु पुरा विवित्सो॥

—ऋ०वे०, 10/54/2

2. सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पर्ती पृयित्या मित्रावरुणा विचर्षणी।
चित्रे भिरभ्रैरूप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायाया॥ —ऋ०वे०, 5/63/3

विभिन्न रूप भी ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। मायी का प्रयोग ऋग्वेद में 3 बार हुआ है।[1]

माया शब्द के इन विभिन्न रूपों के अतिरिक्त मायी और मायावी शब्दों के विभिन्न रूप भी ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। "मायी" का प्रयोग ऋग्वेद में 3 बार हुआ है। "मायिन" का प्रयोग ऋग्वेद में 15 बार आया है। 'मायिनम्' का प्रयोग इस संहिता में 10 बार हुआ है। 'मायिनाम्' 3 बार और 'मायिनी' 2 बार प्रयुक्त हुआ है।[2] 'मायिनि' और 'मायिना' शब्द केवल एक-एक बार ही प्रयुक्त हुए हैं। मायाविना, 'मायाविनम्' और 'मायाविनः' शब्दों का प्रयोग भी ऋग्वेद संहिता में केवल एक-एक बार ही हुआ है।[3] 'मायावान्' शब्द का प्रयोग केवल एक बार ही

---

1. (क) यदिन्द्राहन् प्रयमजामहीना मान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
आत् सूर्यं जनयन द्यामुषास तादीत्ना शत्रु न किला विवित्से॥
—ऋ॰वे॰, 1/32/4

(ख) अरोरविद् वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं यन्मानुषोनिजूर्वात्
निमायिनो दानवस्य माया अपोदयत पपिवान् त्सुतस्य। —ऋ॰वे॰, 2/11/10

(ग) या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विवृत्ता।
अश्वीव ताँ अति येषं रथेना रिष्टा उरावा शर्मनत्स्याम्॥ —ऋ॰वे॰ 2/27/16

2. (क) अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम।
याश्च माया मायिना विश्वमिन्व त्वे पूर्वीः संदधुः पृष्टबन्धो॥
—ऋ॰वे॰, 3/20/3

(ख) इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद वर्पणीतिः।
अहन् व्यंसमुशधग्वने ष्वाविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम्॥ —ऋ॰वे॰, 3/34/3

(ग) कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयश से महे वयम्।
आमेन्यस्य रजसो यद्भ्र आँ अपोवृणाना वितनोति मायिनी॥
—ऋ॰वे॰, 5/48/1

(घ) ऋतायिनी मायिी स दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धन्यन्तीं
विश्वस्य नाभि चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित तन्तु मनसा वियन्तः॥
—ऋ॰वे॰, 10/5/3

3. अधि श्रिये दुहिता सूर्यस्य रथं तस्थौ पुरुभुजा शतोतिम्।
प्र मायाभिर्मायिना भूतमत्र नरा नृतू जनिमन यज्ञियानाम्॥ —ऋ॰वे॰, 6/63/5

हुआ है।[1] विभिन्न स्थलों में प्रयुक्त "माया" शब्द के अर्थों का वि
अपेक्षित है। वैदिक साहित्य के प्राचीन कोश निघण्टु में माया को प्रज्ञा
11 पदार्थों में स्वीकार किया गया है। निरुक्तकार ने भी माया
अर्थप्रज्ञा ही किया है।[2] ऋग्वेद के मन्त्र 6-58-1 में प्रयुक्त "विश्वाहि
अवसि" पर टिप्पणी लिखते हुए यास्क ने पूषा को प्रज्ञारक्षक कहा
ऋग्वेद के मन्त्र 10-88-6 में प्रयुक्त मायाम् का अर्थ भी निरुक्तकार
"प्रज्ञान" ही किया है।[3] इसके अतिरिक्त निरुक्तकार ने अन्यत्र भी
का अर्थ प्रज्ञा ही किया है।[4] भाष्यकार सायण ने अपनी यद्वा अथवा
उक्तियों के द्वारा माया के अनेक अर्थ किये हैं। माया के सायण
किए गए प्रमुख अर्थ हैं।[5]

इसके अतिरिक्त ज्ञान[6] कर्म विषयकज्ञान[7] "कर्म[8] शान्ति[9]
प्रभा"[10] आदि भी माया के अर्थ उन्होंने किए हैं।

---

1. (क) युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम्।
विमदेन यदीकिता नासत्या निरमत्थतम्॥ —ऋ॰वे॰, 10/24/4
(ख) इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः।
अरेजेतां रोदसी भियाने कानक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात॥ —ऋ॰वे॰, 2/1
2. अच्छा कविं नृमणो गा अभिष्टौ स्वर्षाता मघवन्नधमानम्।
ऊतिभिस्तमिषणो द्युम्नहूतौ नि मायावानब्रह्म दस्युरर्त॥ —ऋ॰वे॰, 4/16/9
3. कतः, केतुः चेतः चित्रम्, क्रतुः असुः धी, शचीः माया
वयनम, अभिख्या। निघण्टु 3-9 (सीतारायशाती द्वारा)
सर्वाणि प्रज्ञानान्यवस्यन्नवन् भाजनवती तो पूषन्ह्दितिस्स्तु विसक्त 12/17
4. प्रज्ञा त्वेता मन्तनते यज्ञियानां देवानाम् यज्ञस्म्पादिनाम् (निसक्त 7/27)
5. निरुक्त 6-13
6. सायाण भाष्य 1/11/7 कपट विशेष-मायाभिः तत्प्रतिकुलैः कयटविशेषैः।
प्रज्ञा-यदा गोचर प्रज्ञाभिः अवातिरः हिंसितंवानसि सायन-भाष्य॥ —11-7
7. रूपंरूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपं ईयते युक्ताह्मस्य हरयः राता दश॥ —भा॰, 6/47/18
8. वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमवि जज्ञार्ना रजेसः परस्मात्।
मर्हीं साहस्त्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिं सी परमे व्योमन्॥ —य॰वे॰भा॰, 3/27/7
9. 3/60/1 पर भाष्य
10. इन्द्रो मायया स्वाकीयया शक्तया 4-30-21/5-30-6 पर भाष्य

माया के इन अर्थों में भी कपट, प्रज्ञा और शक्ति अर्थ ही प्रमुख है। सायण द्वारा की गई माया शब्द की व्युत्पत्ति भी प्रज्ञा अर्थ की ही पोषक है सायण ने माया शब्द को मानार्थक एवं शब्दार्थक माङ्धातु से कर्ता अथवा कर्म में या प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न माना है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर सायण ने माया कि परिभाषा दी है – "मिमीते जानीते कर्म, मीयते अनयेति वा माया" इस प्रकार माया का अर्थ कर्म विषयक ज्ञान है।[1]

माया के शक्ति अर्थ से सायण का तात्पर्य भौतिक अथवा शारीरिक शक्ति से न होकर मानसिक शक्ति ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मन्त्र 3–53–8[2] के भाष्य में सायण द्वारा दिया गया माया का अनेक रूप ग्रहण सामर्थ्योपेताः पर्याय सूक्ष्म शक्ति की ओर ही संकेत करता है।

यजुर्वेदसंहिता में अज्ञान :

यजुर्वेदसंहिता में भी अज्ञान (माया) शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। यजुर्वेदसंहिता के इन प्रयोगों में भी माया (अज्ञान) प्रज्ञा अर्थ ही लक्षित होता है। यजुर्वेद के 11वें अध्याय के 69वें मन्त्र में आसुरी माया का वर्णन है। उत्वर ने इस मन्त्र के भाष्य में आसुरी अज्ञान को प्राण सम्बन्धिनी प्रज्ञा कहा गया है।[3]

महीधर ने भी अज्ञान (माया) के 2 अर्थ स्वीकार किये हैं। 1. प्राण सम्बन्धी प्रज्ञा 2. अचिन्त्यरचना रूप विचित्र वस्तु[4] यजुर्वेद में ही एक अन्य प्रसंग[5] में अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि आप इस मही और साहस्त्रीरूपा आसुरी अज्ञान (माया) का नाश न करें।

---

1. 3/61/7 पर भाष्य
2. 3/37/7 पर भाष्य
3. यत् आसुरीमाया, असुः प्राणरेक उपजनः प्राण सम्बधिनी माया प्रज्ञा उत्वर। —भा॰, 11–69
4. कस्मात् त्वमिदामुच्यसे स्वाध्यान्नेन निमित्तेनत्वमासुरी माया प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा कृतासि। यद्वा असुरसम्बन्धिनी माया अचिन्त्यरचनारूपं चित्रं वस्तु, भृत्वा यद्वत् प्रतिभाति तद्वत त्वमपि तद्रचनायुक्त निष्पन्न सीत्यर्थः। —म॰भा॰, 11–69
5. यजुर्वेद, 13–44

महीधर ने असुर शब्द का अर्थ प्राणी किया है[1] इसके अतिरि
भी यजुर्वेद में अन्य स्थलों पर प्रयुक्त माया शब्द का अर्थ भाष्यकारों
प्रज्ञा एवं बुद्धि अथवा ज्ञान ही किया है।[2]

अथर्ववेद संहिता में अज्ञान :

अथर्ववेद संहिता में भी अज्ञान का प्रयोग अनेक स्थलों पर हु
है।[3] अथर्ववेद के एक मन्त्र में अज्ञान का वर्णन निमात्री शक्ति के रूप

---

1. यजुर्वेद–महीधर भाष्य 13–44
2. यजुर्वेद महीधर 23–52
3. (क) वृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता।
   माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परिं॥ —अ॰वे॰, 8/9/5
   (ख) सा नः कृतानिं सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
   सा नः पयस्वव्यैतुमांनो जैषुरिदं धनम्॥ —अ॰वे॰, 4/38/3
   (ग) यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
   एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्ग संसमकं कृणोतु॥ —अ॰वे॰, 6/72/1
   (घ) पूर्वापरं रतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
   विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदर्धज्जायसे नवः॥ —अ॰वे॰, 7/86/1
   (ङ) इन्द्र जहि पुमासं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
   विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्॥ —अ॰वे॰, 8/4/24
   (च) यत्र देवाश्च मनुष्याश्वारा नाभाविव श्रिताः।
   अपा त्वा पूष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥ —अ॰वे॰, 10/8/34
   (छ) यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभ नानारूपे अहनी र्कप मायया।
   तदादिव्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्चं परिभूम जायसे॥
   —अ॰वे॰, 13/2
   (ज) पूर्वापरं चरतो माययैतातौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
   विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति॥ —अ॰वे॰, 13/2/1
   (झ) पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रिडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
   विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ —अ॰वे॰, 14/1/23
   (ञ) अव्यसश्च व्यचसश्च विलं वि ष्यामि मायया।
   ताभ्यामुद्धृव्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥ —अ॰वे॰, 19/68/1
   (ट) अया ह व्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन।
   अच्युता चिद वीलिता स्वोजो रुजो वि दृह्ला धृषता विरप्शिन्॥
   —अ॰वे॰, 20/36/

मिलता है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में एक स्थल पर रोगी और निरोगी स्त्री पुरुषों को अश्विनी कुमारों ने अज्ञान (माया) को धारण करके रस पीने का उपदेश दिया है।

ऋग्वेद के इन्द्र की माया की तरह अथर्ववेद में वृत्तासुर की माया की भी चर्चा की गई है।[1] अथर्ववेद के 20वें काण्ड में ही इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि "हे दीप्त दर्शन इन्द्र आप द्युलोकवासी जनों के राजा हैं। आप दक्षिण हाथ में वज्र को धारण करें और उस वज्र से सब आसुरी मायाओं को बधित करें।"[2]

अथर्ववेद में आसुरों की प्रवञ्चना के लिए भी माया शब्द का प्रयोग किया गया है। 20वें काण्ड के उन्नीसवें सूक्त के चतुर्थ मन्त्र के अन्तर्गत इन्द्र से स्तुति की गई है कि आप मायाओं से उद्गमन करने की इच्छा वाले और द्युलोक पर चढ़ना चाहने वाले असुरों को उल्टा मुख करके नीचे गिरा देते हैं।[3] सायण ने इस मन्त्र में भी माया का अर्थ प्रवञ्चना किया है।[4] अथर्ववेद में माया का वर्णन इन्द्र की शक्ति के अर्थ में भी मिलता है।[5]

ॐ (ठ) घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन।
अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन्॥ —अ॰वे॰, 19/27/5

(ड) मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत्॥ —अ॰वे॰, 19/27/6

(ढ) अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति।
तास्ते रन्ध्यामि हरसा जातवेदः सहस्त्रऋष्टिः सपतान प्रमृणन् पाहि वजः॥
—अ॰वे॰, 19/66/1

(ण) वृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता।
माया ह जज्ञो मायाया मायाया मातली॰परि॥ —अ॰वे॰, 8/9/5

1. अया ह त्वं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतन।
अच्युता चिद वीलिता स्वोजा रुजो वि दृह्ला धृषता विरप्शिन्॥ —अ॰वे॰, 20/36/6

2. भूवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थवस्य जगतस्त्वेषसंदृक्।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः॥ —अ॰वे॰, 20/36/9

3. मायाभिरुत्सिसृप्सत् इन्द्र द्यामारुरुक्षतः। अवदस्यूरधूनुथाः। —अ॰वे॰, 20/29/4

4. मायामि मायाभिः आत्मीयानिर्व चनाभिः।

5. महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरुणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूरभिभूत्योजाः॥ —अ॰वे॰, 20/11/6

2. औपनिषदीय मत :-

उपनिषदों की संख्या के विषय में मतभेद है। कहीं 108, कहीं 220 तक की संख्या मानी गई है, परन्तु शंकराचार्य ने जिन प्रामाणिक दस उपनिषदों[1] पर भाष्य लिखे हैं; उनमें केवल दो बार ही (माया) शब्द का प्रयोग हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद्[2] और प्रश्नोपनिषद्[3] में एक बार अज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका अज्ञान अथवा मायावाला अंश ऋग्वेद के मन्त्र 6-47-18 की ही ठीक अनुकृति है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रयुक्त माया शब्द का अर्थ रहस्यमयी है और प्रश्नोपनिषद् में माया का अर्थ आचार की कुटिलता है। उत्तरकालिक उपनिषदों में भी माया का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में अज्ञान को माया, "मायाम्", "मायिनम्", "मायी" और "मायया" शब्दों का प्रयोग मिलता है।[4] यहाँ पर माया को प्रकृति एवं परमेश्वर को मायी कहा गया है[5] इस उपनिषद् में विश्व माया की निवृत्ति का भी उल्लेख है।[6] विश्व माया है। इस परिकल्पना का यह संकेत शंकराचार्य के "मायामात्रमिदंद्वैतम्" के अधिक निकट प्रतीत होता है। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में माया शब्द का अभिप्राय शक्ति अर्थ में प्रयोग किया गया है।[7] इसी उपनिषद में एक स्थान पर माया का अर्थ अज्ञान भी है।[8] इस उपनिषद् में जगत् की मायिकता का ही संदेश है।[9] कैवल्योपनिषद् में माया का अर्थ भी अज्ञान ही किया गया है।[10] कठरुद्रोपनिषद् के 10वें मन्त्र में संसार की माया आदि

---

1. ईशोपनिषद् केनोपनिषद्, कठोपनिषद् प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् माण्डूक्योपनिषद् तैत्तिरीर्योपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् तथा वृहदारण्यकोपनिषद्।
2. बृह्म॰उप॰ 2-19
3. प्र॰उप॰ 1-16
4. माया 1-10/मायाम्, मायिनम् 4-10/मायी, मायया 4-9 श्वेत॰ 54
5. श्वेत॰उप॰ 4-10
6. श्वेत॰उप॰ 1-10
7. श्वेत॰उप॰ 3-1
8. श्वे॰उ॰ 5-1
9. श्वे॰उ॰ 1-1 खण्ड 5
10. के॰उ॰ 1-12/1-13

संज्ञाएँ दी गई हैं। इसी उपनिषद् में माया का जीव और ईश्वर के साथ सम्बन्ध भी दिखाया गया है।

कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि जो इस जगत् में भेद देखता है, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होता, परन्तु अद्वैतविद्या से बुद्धि के संस्कृत होने पर ही द्वैत दृष्टि का विनाश सम्भव होता जाता है।[1] इसके अतिरिक्त छन्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु और उसके पिता आरुणि के संवाद में भी ब्रह्म एव नामरूपात्मक जगत् की एकरूपता का स्पष्ट विचार मिलता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् अध्यास। जगत्रूप अध्याय ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अज्ञान (माया) उत्पन्न होता है और अज्ञाननिवृत्ति होने पर अभ्यास भी नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद् में अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सनातन अश्वत्थ वृक्ष उर्ध्वमूल एवं अवाक्शाख है। जो आकाश के समान आत्मा का विशुद्ध एकत्व देखने वाला है, उसका नहीं होते। जो अज्ञान (कर्म) की उपासना करते हैं वे (अविधारूप) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो ज्ञान में ही रत है, वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।[2]

कर्म के सम्बन्धी रूप में यहाँ देवता सम्बन्धी ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है — परमात्मा ज्ञान का नहीं, क्योंकि विद्या से देवलोक प्राप्त हैं और अज्ञान से नरक मिलता है।

जो ज्ञान और अज्ञान इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अज्ञान से मृत्यु को पार करके ज्ञान से अमरत्व प्राप्त कर लेता है। "ज्ञान से देवलोक प्राप्त होता है" "ज्ञान से उस पर आरूढ़ होते हैं" ऐसी श्रुतियों के अनुसार वेदवेत्तालोक कहते हैं कि ज्ञान से और ही फल मिलता है तथा "कर्म से पितृलोक मिलता है" इस श्रुति के अनुसार, अज्ञान यानि कर्म से और ही फल होता है ऐसा भाष्यकार का कथन है। ज्ञान और

1. क॰उ॰ 6/1/2-7
2. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह।
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ —ईशा॰भा॰उप॰, मं॰ 11

अज्ञान अर्थात् देवताज्ञान और कर्म — इन दोनों को जो एक साथ
पुरुष से अनुष्ठान किये जाने योग्य जानता है, इस प्रकार समुच्चय क
वालों को ही एक पुरुषार्थ का सम्बन्ध क्रमशः होता है। अज्ञान अ
अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु यानि 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वभाविक कर्म अ
ज्ञान — इन दोनों से पार करके ज्ञान ईशावास्योपनिषद् में अज्ञान
निन्दा करते हुए कहा गया है कि "वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा
अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन क
वाले लोग हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।[1] जिनमें कर्म फ
का लोकन-दर्शन यानि भोग होता है। वे लोक अर्थात् जन्म (योनि
अन्ध अदर्शनात्मक यानि अज्ञान से आच्छादित हैं। वे इस शरीर
छोड़कर अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार उन (ब्रह्म से लेकर) स्था
पर्यन्त योनियों में ही जाते हैं जो कोई आत्मा का घात (नाश) करते
वे आत्मघाती हैं; वे लोग अज्ञानी होते हैं। अज्ञानरूपदोष के कारण अ
नित्यसिद्ध आत्मा का तिरस्कार करने से वे सर्वदा अपने आत्मा की वि
प्रकार हिस्सा करते हैं। अजरामरत्वादिज्ञानरूप कार्य यानि फल मरे हुए
समान तिरोभूत रहता है। इसलिए प्राकृत अज्ञानीजन आत्मघाती कहे ज
हैं। इस आत्मघातरूप दोष के कारण ही वे जन्म-मरण को प्राप्त होते
आत्मा का हनन करने से अज्ञानयुक्त लोक जन्म-मरण रूप संसार
प्राप्त होते हैं और उसके विपरीत ज्ञानयुक्त जनलोक मुक्त हो जाते हैं
वे आत्मघाती नहीं होते।[2]

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिये सब भूत आत्मा हो जाते हैं,
उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या म
हो सकता है?[3] शोक और मोह तो कामना और कर्म बीच को न जा
वाले को ही हुआ करते हैं। अर्थात् देवताज्ञान से अमृत य

1. असुर्या नाम ते लोको अन्धेन तमसावृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —ई॰उप॰, मं॰ 3
2. यस्यात्मनो हननाद् विद्वांस संसरान्ति तद्विपर्ययेन विद्वासों जना। —शां॰भा॰, मं॰
3. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभृद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। —इ॰उप॰, मं॰ 7

देवतात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। देवत्वभव को जो प्राप्त होता है, वही अमृत कहा जाता है।[1] जो असम्भूति की उपासना करते हैं; वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है। वह जिस कार्य का धर्म है, उसे "सम्भूति" कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति प्रकृति–कारण अथवा अव्याकृत नाम का अज्ञान है। उस असम्भूति यानि अव्याकृत नामवाली प्रकृति–कारण अथात् अज्ञानात्मिका अज्ञान की जो कि कामना और कर्म की बीज है; जो लोग उपासना करते हैं वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो सम्भूति यानि हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म में रत हैं, वे तो उससे भी गहरे — मानो अधिकता अन्धकार में प्रवेश करते हैं।[2]

अज्ञान (कर्म) से मृत्यु को पार कर ज्ञान (देवताज्ञान) से अमृत प्राप्त करता है, क्योंकि अज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर अज्ञान का नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रय में अज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अग्नि उष्ण और प्रकाश स्वरूप है, इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर जिस (चित्रूप) आश्रय में यह उत्पन्न हुआ है, उसी में अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है — ऐसा अज्ञान नहीं हो सकता। मुण्डकोपनिषद् का मत है कि ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है, जन्म–मरण के बन्धन से मुक्ति मिलती है तथा सारे संशय दूर हो जाते हैं।[3] जन्म–मरण के ये बन्धन प्रकाशन्तर से सुख–दुःख ही हैं। वास्तव में यह संसार द्वन्द्वात्मक है। असत्–सत् अन्धकार–प्रकाश, मृत्युअमृत्व, सुख–दुःख अवसाद–प्रसाद सभी द्वन्द्व हैं। इसलिए यह कहना है कि व्यक्ति के जीवन में नकारात्मक स्थितियाँ आएंगी ही नहीं अयथार्थवादी बात होगी। दुःख, अंधेरा है, तभी तो सुख की, प्रकाश की सार्थकता है। बात है मन के दृष्टिकोण को

---

1. अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति।
—ई॰उप॰, शां॰भा॰, मं॰ 11

2. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः। —ई॰उप॰, मं॰ 12

3. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥ —मु॰उप॰ 2/8

आशावादी बनाने की, दुःख को सहने की शक्ति संजोने की। मन को प्रसन्न रहने का स्वभाव बना लिया जाए तो सब दुःख क्षीण हो जाते हैं।

'बृहारण्यकोपनिषद्' का कहना है कि जिस प्रकार नमक पानी में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त है।[1] इसको केवल ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म सूक्ष्मतर रूप में प्रकाशित होता है[2] "नेह नानास्ति किञ्चन" का गम्भीर शंखनाद करने वाले "कठोपनिषद्" में भी परब्रह्म परमात्मा को सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान् निरूपित किया गया है। यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसको वह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।[3] परब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जीवात्मा के लिये कर्मानुसार विविध भोगों का निर्माण करने वाला वह परमपुरुष प्रलयकाल में सब जीवों के सो जाने पर भी अपनी महिमा में नित्य जागता रहता है, वही परम विशुद्ध तत्त्व है। वही परब्रह्म है। उसी को अमृत स्वरूप परमात्मा कहा जाता है। समस्त लोक उसी में आश्रय पाये हुए हैं। उसके नियमों का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।[4] समग्र ब्रह्माण्ड के प्रकाशक सूर्य की तरह वह समस्त प्राणियों की आत्मा में निवास करता हुआ भी अनेक कर्मफल से निर्लिप्त रहता है।[5] वह परब्रह्म समग्र ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त

---

1. स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत, न ह्यस्योदग्रहणयेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तरमपारं विज्ञानघन एव।
—बृ॰उप॰ 2/4/12
2. सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। —मुण्ड॰उप॰, 3/1/7
3. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँ स्वाम्॥ —क॰उप॰, 1/2/23
4. य एष सुप्तेषु जार्गत कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥ —कठ॰ 2/2/8
5. एकस्तया सर्वभूतान्तरात्मा उपनिषद न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्येन।
—क॰उप॰ 2/2/9, 11

प्रज्वलित अग्नि की तरह हो रहा है।[1] तात्पर्य यह है कि वह नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, एक ब्रह्म 'सर्वभूतान्तरात्मा' है अद्वितीय है एवं सबको वश में रखने वाला है। वह सर्वशक्तिमान् अपने ही एक रूप को अपनी लीला से अनेक प्रकार का बना लेता है।[2] उस प्रकाशपुञ्ज ब्रह्म के समीप सूर्य, चन्द्र, तारागण और बिजलियाँ प्रकाशित नहीं होतीं, ये सभी उसी के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं।[3]

इसी परब्रह्म के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय में सूर्य तपता है और इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु (अपने-अपने) कामों में प्रवृत्त हो रहे हैं। उस परब्रह्म के साक्षात्कार का एकमात्र साधन योग अथवा विद्या है। मूँज से इषि का मुंजादिषिकैव (सींग) के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान् आत्मा की उपलब्धि योग द्वारा करनी चाहिये।

'कठोपनिषद्' का यही व्यावहारिक उपदेश है। ब्रह्म के स्वरूप-निर्णय का विनिश्चय "कठोपनिषद्" में ऐसा बताया गया है।

"तैत्तिरीयोपनिषद्" में कहा गया है कि "तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए। अतः ज्ञान की उत्पत्ति के लिये कर्म करने चाहिए।[4] "अनुशास्ति" इसमें अनुशासन ऐसा शब्द होने के कारण उस अनुशासन अतिक्रमण करने पर दोष की उत्पत्ति होगी। कर्मों का उपन्यास पहले किए जाने के कारण भी यह निश्चय होता है कि ये कर्म ज्ञान की उत्पत्ति के लिये हैं। कर्मों का उपन्यास केवल ब्रह्मज्ञान का निरूपण आरम्भ करने से पूर्व ही किया गया है।[5] ब्रह्मज्ञान का उदय होने पर तो "अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है" किसी से भी भय नहीं मानता "मैंने कौन-सा शुभ कर्म नहीं किया।[6] इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्मों की

---

1. रूपं रूपं प्रतिरूपः। —कठ॰उप॰, 2/2/9
2. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। —कठ॰उप॰, 2/2/12
3. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ —क॰उप॰, 2/2/15
4. वक्ष्यति च तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। —तै॰उप॰, 3/2/5
5. प्रागपन्यासाद्य कर्मणाम् केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि।
उदितायां चब्रह्मविद्यायाम् अभयं प्रतिष्ठां विन्दते॥ —तै॰उप॰, 2/7/1
6. किमहं साधु नाकरवम्। —तै॰उप॰, 2/9/1

निष्किञ्चनता ही दिखलायेंगे। इससे विदित होता है कि कर्म पूर्व सञ्चित पापों के क्षय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति के लिये है। अज्ञान (कर्म) से मृत्यु (अधर्म) को पार करके ज्ञान (उपासना) से अमरत्व का लाभ करता है कर्म और ज्ञान का अधिकार ही उसकी प्रधानता है। कर्म और ज्ञान के साधन में समर्थ, उनके फल की इच्छा वाला और उससे उदासीन न होने के कारण, पुरुष ही कर्म और ज्ञान का अधिकारी है। पुरुष में ही आत्मा का पूर्णतया आविर्भाव हुआ है, वही प्रकृष्ट ज्ञान से सबसे अधिक सम्पन्न है वह जानी-बुझी बात कहता है, जाने-बुझे पदार्थों को देखता है, वह कल होने वाली बात भी जान सकता है। उसे उत्तम और उधम लोकों का ज्ञान है तथा वह कर्म-ज्ञानरूप नश्वर साधन के द्वारा अमर पद की इच्छा करता है — इस प्रकार वह विवेक सम्पन्न है।[1]

'माण्डूक्योपनिषद्' में कहा गया है कि जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है अर्थात् तत्त्व ज्ञान लाभ करता है, उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।[2] यह जो संसारी जीव है वह तत्त्वाप्रतिबोधरूप बीजात्मिका एवं अन्यथा ग्रहण रूप अनादि काल से प्रवृत्त माया रूप निद्रा के कारण (स्वप्न और जागृत) दोनों ही अवस्थाओं में 'यह मेरा पिता है, यह पुत्र है, यह नाती है यह मेरे क्षेत्र, गृह और पशु है, मैं इनका स्वामी हूँ तथा इनके कारण सुखी-दुःखी क्षीण और बुद्धि का प्राप्त होता हूँ' सम्पूर्ण द्वैत दुःखस्वरूप है— ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्त को कामजनित भोगों से हटावे इस प्रकार निरन्तर सब वस्तुओं को अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता।[3] अज्ञान से प्रतीत होने वाला सारा द्वैत दुःख रूप ही है — ऐसा निरन्तर स्मरण करता हुआ कामयोग से कामना निमित्तक भोग से अर्थात् इच्छाजनित विषय से उसमें फैले हुए चित्र को

1. अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। —तै॰उप॰ब॰ 1, अनु॰ 1, पृ॰ 69
2. अनादिमायया सूतो यदा जीवः प्रबुध्यते।
   अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा। —मा॰उप॰, पृ॰ 16
3. दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
   अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥ —मा॰उप॰गौ॰का॰शां॰भा॰, पृ॰ 43

वैराग्य भावना द्वारा निवृत्त करे — यह इसका तात्पर्य है। फिर यह सब अजन्मा ब्रह्म ही है ऐसा शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार निरन्तर स्मरण करता हुआ उससे विपरीत द्वैत जात को उसका अभाव होने के कारण वह नहीं देखता।

3. पौराणिक मान्यता :

पुराणों में अज्ञान (अज्ञान) और ज्ञान (ज्ञान) के सम्बन्ध में पर्याप्त निरूपण मिलता है, जो इस प्रकार है :-

विष्णुपुराण :

विष्णुपुराण में अज्ञान शब्द का प्रयोग विष्णु की माया (अज्ञान) के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में एक स्थान स्थल पर विष्णु के द्वारा अज्ञान (माया) से मोह उत्पन्न करने का भी वर्णन है।[1]

भागवत् पुराण :

इस पुराण में अज्ञान की परिभाषा दी गई है[2] कि जिस वस्तु के न होने पर भी अस्तित्व की प्रतीति होती है और जो आत्मा में प्रतीत नहीं होती, उसे आत्मा का अज्ञान समझना चाहिए। वह अज्ञान आभास एवं तम के सदृश है। भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध में भगवान् को अज्ञान (माया) से मोहित होकर मनुष्यों के स्त्री-पुत्रादि में आसक्त होने और दुःख के अपार सागर में डूबने उतरने का वर्णन है।[3]

ब्रह्मपुराण :

इस पुराण में भी अज्ञान का प्रयोग भगवान् का अज्ञान (माया) के लिये किया गया है।

मुनि कण्डु भगवान् से प्रार्थना करते हैं हे भगवन्! आपकी माया से मोहित हुआ मैं चिरकाल से भ्रम में पड़ा हुआ हूँ। मैं विषयासक्त मन वाला होने के कारण आपकी माया का पार नहीं पाता।[4]

---

1. वि॰पु॰, 3-17-4
2. ऋतेऽर्थे यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
   तद्विद्यादात्मनो माया यथावासो यथातमः॥ —भा॰प्र॰, 2/9/33
3. भा॰प्र॰, 10-63-40
4. ब्र॰पु॰, 178-181

वराह पुराण :

इस पुराण में कपिल और जैगीषत्य मुनि के अज्ञान के द्वारा धारण करने का वर्णन है। यहाँ अज्ञान का प्रयोग आश्चर्यात्मिका श के लिये किया गया है।[1]

अग्निपुराण :

इस पुराण में अन्तर्गत अज्ञान भगवती दुर्गा के नामों के किय गया है।[2] इसके अतिरिक्त इसी पुराण के 241वें अध्याय में अम अज्ञान का वर्णन मिलता है।[3]

शिवपुराण :

इस पुराण की वायवीय संहिता क अन्तर्गत शक्तिमान् शिव अज्ञान (माया) की शक्ति दिखाई गई है।[4]

स्कन्दपुराण :

इस पुराण के काशी खण्ड में कपट से ब्राह्मण का रूप ध करने वाले गणेश जी को अज्ञान के लिये माया शब्द का प्रयोग हुआ गणेश जी अपने अज्ञान (माया) के द्वारा स्त्रियों के अन्तःपुर में प्र करते हैं। यहाँ अज्ञान का प्रयोग रहस्यात्मिका शक्ति के लिये किया पड़ता है।[5]

ब्रह्मवैवर्त पुराण :

इसमें भगवती दुर्गा को जगत् सम्मोहिनी माया (अज्ञान) नाम गया है।[6]

भविष्य पुराण :

इसमें महादेव द्वारा निंमत शम्बरी अज्ञान की चर्चा की गई है।[7]

---

1. व०पु०, 4–26
2. अ०पु०, 137–18
3. अ०पु०, 241–65
4. शि०पु०, वा०सं०, पू०अ० 9/3
5. स्क०पु०, का ख 56–31
6. ब्र०वै०पु०, प्र०ख०, 66–25
7. भ०पु०, प्र०प० 23–110, 111, 112, 113

मार्कण्डेय पुराण :

अन्तर्गत विष्णु की माया शक्ति के लिए अज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

वामन पुराण :

वामन पुराण में वामन भगवान् की स्तुति करते समय उनके मायिक रूप की चर्चा की गई है। यहाँ भी माया शब्द का प्रयोग भगवान् की योगमाया के लिये किया गया है।[2]

गरुड़ पुराण :

गरुड़ पुराण के अन्तर्गत अज्ञान शब्द का प्रयोग देवमाया के रूप में प्राप्त होता है।[3]

यहाँ देवमाया का तात्पर्य ब्रह्म माया (अज्ञान) से जान पड़ता है।

ब्रह्माण्ड पुराण :

इसमें अज्ञान शब्द को अनाचार सूचक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[4]

पद्मपुराण :

पद्मपुराण में अन्तर्गत अज्ञान शब्द का प्रयोग संसार की मोहिका शाक्ति के लिये किया गया है।[5] इसी पुराण में भगवान् राम के मायामानुष रूप धारण करने का भी वर्णन मिलता है।[6]

ब्रह्मपुराण में ज्ञान और अज्ञान के विषय में विस्तार से कहा गया है। इसमें सृष्टि और प्रलय-धर्मी का स्वरूप अभेद्य और अव्यक्त कहा गया है। इसी प्रकार प्रलय और ज्ञान तथा अज्ञान बीस प्रकार की कही गई है।[7] जैसा कि ऋषियों ने सांख्य को प्रमाण मानकर कहा है कि सब

---

1. मा॰पु॰, 82-6
2. वा॰पु॰, 30-24, 25, 26, 29
3. ग॰पु॰, 49-34
4. ब्र॰पु॰पू॰भ॰अनु॰पा॰, 19-105
5. प॰पु॰, उ॰ख॰, 243-411
6. मायामानुषतां प्राप्य स देवानब्रवीच्च पुनः। —प॰पु॰, 243-44
7. अभेद्यमाहुरव्यक्तं सर्गप्रलय धर्मणः।
   सर्गप्रलय इत्युक्तं विद्याविदो न विंसमः॥ ब्र॰पु॰अ॰ 244, श्लो॰ 2

कर्मेन्द्रियों के लिये ज्ञान ज्ञानेन्द्रिय है और ज्ञानेन्द्रियों के लिये वह विशे
वस्तु है।[1] इसी प्रकार मनीषियों ने उन (इन्द्रियों) के विषयों के लिये म
को ज्ञान कहा है और मन का ज्ञान पाँच महाभूतों को माना है।[2] पाँ
महाभूतों का ज्ञान अहंकार है, इसी प्रकार अहंकार का ज्ञान बुद्धि है। बु
की प्रकृति (अव्यक्त तत्त्वों) और प्रकृति का ज्ञान परमेश्वर है। नरश्रे
विधि की तो परम ज्ञान कहा गया है।[3] ज्ञान को अव्यक्त कहा गय
ज्ञेय के पच्चीस भेद हैं। इसी प्रकार अव्यक्त ज्ञान के एवं विद्या के
पच्चीस भेद कहे हैं। क्षर और अक्षर के विषय में कहा गया है कि
दोनों ज्ञान और ज्ञेय (प्रकृति पुरुष) (ज्ञान-अज्ञान) क्षर और अक्षर दो
कहे गये हैं, ये दोनों अनादि और निधन (नाशशील) एवं दोनों ही ई
(समर्थ) माने गये हैं।[4]

शिवपुराण :

शिवपुराण की कैलाश संहिता में शिव का वर्णन परब्रह्म के
में मिलता है। शिवपुराण की रुद्रसंहिता के द्वितीय अध्याय के अन्त
परमार्थसत्य का विवेचन करते समय जीव और ब्रह्म की अद्वैतता
निरूपण करते हुए कहा है कि सर्वोच्च सत्य, जिससे मुक्ति की प्रा
होती है, शुद्ध चिद्रूप है और उस चिद्रूपता की स्थिति में जीव और ब्र
में कोई भेद नहीं होता।[5] अज्ञान के सम्बन्ध में शिवपुराण में कहा गया

---

1. कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्यां बुद्धीन्द्रियं स्मृतम्। —ब्र॰पु॰अ॰ 244, श्लो॰ 4
2. विषयाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः।
   मनसः पञ्चभूतानि विद्या इत्याभिचक्षते॥ —ब्र॰पु॰अ॰ 244, श्लो॰ 5
3. अहंकारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः।
   अहंकारस्तथा विद्याबुर्द्धिवद्या नरेश्वर॥ —ब्र॰पु॰अ॰ 244, श्लो॰ 6, 7
   बुद्ध्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वनां परमेश्वरः।
   विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परम स्मृतः॥
4. विद्याविद्ये तु तत्त्वेन मयोक्ते वै विशेषतः।
   अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे॥ —ब्र॰पु॰अ॰ 244, श्लो॰ 10, 11
   उभावेतौ क्षरावुक्तौ उभावेतावनक्षरौ।
   करणं तु प्रवक्ष्यामि यथाज्ञानं तु ज्ञानतः॥ —ब्र॰पु॰, अ॰ 244, श्लो॰ 10, 11
5. शि॰पु॰, 2/2/231

के वह तो बुद्धि भेद का ही फल है। अज्ञान का स्वतंत्र सत्ता नहीं है।[1]

ागवतपुराण :

इस पुराण में परमेश्वर के ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नाम दिये ये हैं। परन्तु वस्तुतः परमेश्वर को श्रीमद्भागवत में अरूप एवं चिदात्मा हा है[2] परमात्मा अपनी माया शक्ति के द्वारा ही जगत् का स्रष्टा है। ाया के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म के िना माया की सत्ता सम्भव नहीं, परन्तु उसकी सत्ता की प्रतीति ब्रह्म में म्भव नहीं है।[3]

ार्कण्डेयपुराण :

मार्कण्डेयपुराण के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के समान ही ज्ञान विद्या) का महत्त्व प्रदर्शत किया गया है इस पुराण के अनुसार (विद्या) ान द्वारा (अज्ञान) की निवृत्ति को ही "योग" कहा है। जिसका फल एक मुक्ति एवं ब्रहैक्य है और दूसरी ओर प्राकृत गुणों के साथ अनैक्य ा भाव है। जीव एवं ब्रह्मा के ऐक्य के सम्बन्ध में मार्कण्डेयपुराण में क स्थल पर कहा है कि जिस प्रकार जल में फैंका गया जल एकता को प्त होता है, उसी प्रकार योगी भी पूर्णतया की स्थिति में एकता को प्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।[4]

रदीय पुराण :

नारदीय पुराण में नारायण अपनी शक्ति के द्वारा संसार की सृष्टि रते हैं। नारायण की यह शक्ति सत् एवं असत् तथा ज्ञान एवं अज्ञान नों प्रकार के हैं।[5] नारायण और उनकी शक्ति का उक्त विचार अद्वैत र्शन की प्रमुख विचारधारा के बहुत ही समीप है। शक्ति के सम्बन्ध में हा गया है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि में व्याप्त होती है, उसी प्रकार ्मेश्वर की शक्ति भी परमेश्वर से कभी पृथक् नहीं हो सकती।[6] इस

अज्ञानं च मत भेदो नास्त्यन्यच्चाद्वयं पुनः। —शि॰पु॰ 4/38/8

भा॰पु॰ 1/3/30

तदेव 2/9/33

मा॰पु॰, 1/3/41

ना॰पु॰, 113/9

ना॰पु॰, 1/3/13

पुराण में ईश्वर की प्राप्ति के लिये ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना है।

वायुपुराण :

इस पुराण के अनुसार परमात्मा सर्वात्मा एवं भूतात्मा है। इस प्रकार ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त एवं सर्वोच्च है।[1] मोक्ष के उपाय के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वायुपुराण में कहा गया है कि सत् एवं असत् कर्मों का त्याग ही मोक्ष का हेतु है।[2] जो पूर्णतया शुद्ध एवं पापरहित है वही परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वायुपुराण में कहा गया है कि समाधि के द्वारा उस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसकी स्थिति में साधक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।[3]

गरुड़पुराण :

गरुड़पुराण में कहा गया है कि शिव सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। गरुड़पुराण में शिव के परब्रह्म रूप का वर्णन मिलता है।[4] गरुड़पुराण के अनुसार अज्ञानबन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही मुक्ति की प्राप्ति की जाती है। बिना ज्ञान के संसार रूपी सागर को पार नहीं किया जा सकता।

अग्निपुराण :

अग्निपुराण के अनुसार चित् एवं ब्रह्म के योग के ऐक्य का नाम योग है। अग्निपुराण में विष्णु को ही ब्रह्म का रूप दिया गया है। अग्निपुराण के अनुसार ब्रह्म के भी दो रूप हैं — एक ब्रह्म और दूसरा शब्द ब्रह्म।[5] विद्या भी दो प्रकार की है — एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। परा विद्या ब्रह्म सम्बन्धिनी है और अपरा विद्या वेद-वेदांग के ज्ञान के सम्बन्धिनी है और अपरा विद्या वेद-वेदांग के ज्ञान से सम्बन्धित है।[6]

---

1. वा॰पु॰, 14/3, 6–8, 13–14
2. वा॰पु॰, 17/7
3. वा॰पु॰, 10/89, 18/5, 14/7
4. ग॰पु॰, 49/6
5. अ॰पु॰, 1/1/11, 5
6. तदेव 1/1/15/17

द्मपुराण :

पद्म पुराण में विष्णु आदि की उत्पत्ति भी मायिक बतलाई गई है। द्म पुराण में आत्मा के अविनाशितव का भी वर्णन मिलता है।[1] इस राण में ब्रह्मज्ञानियों की चर्चा की गई है।

त्स्यपुराण :

मत्स्यपुराण के अन्तर्गत औपनिषद् ज्ञान का भी संकेत मिलता है।

धर्मशास्त्र एवं गीता की अवधारणा :

धर्मशास्त्र की प्रासंगिकता जिस प्रकार पूर्वकाल में थी, उसी प्रकार ाज भी है। सम्पूर्ण मानव समाज की सुव्यवस्था के लिये भगवान् मनु ने रम्परा प्राप्त धर्मानुकूल नियमों-कर्त्तव्यों का इस 'मानवधर्मशास्त्र' के रूप ं प्रवर्तन किया है।[2] यही ज्ञान (विद्या) है तथा इसके विपरीत आचरण ा व्यवहार अधर्म अथवा अज्ञान कहा गया है। विहित-अविहित कर्म र्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में निर्णायक धर्मशास्त्र ही होता है।

प्रामाण्यं धर्मशास्त्रस्य कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

'श्रुति' शब्द से जैसे वेद का बोध होता है, वैसे ही 'स्मृति' शब्द से र्मशास्त्र का। स्मृतियाँ अनेक हैं, इनमें मनुस्मृति का सर्वाधिक महत्त्व है; योंकि भगवान् मनु ने जिसका जो धर्म बतलाया है, वह सब कुछ दमूलक ही है। वे सर्वज्ञानमय हैं।[3]

धर्मशास्त्र के अनुसार मानव जीवन के चार लक्ष्य हैं — र्म-अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन मनुस्मृति में िया गया है और उन्हें प्राप्त करने के लिये विहित मार्गों का निर्देश भी िया गया है। इन नियम-निर्देशों के अनुसार किये अच्छे/बुरे ानात्मक-अज्ञानत्मक कर्मों के द्वारा ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

श्रुति और स्मृति द्वारा प्रतिपादित आचार को परमधर्म माना गया

---

1. प॰पु॰, 1/45/173, 1/45/178
2. तस्य कर्म विवेकार्थं शोषाणामनुपूर्वशः।
   स्वायंभूवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्॥ —मनु॰ 1/102
3. यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्ततर्तः।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ —मनु॰ 2/7

है। आत्महित अर्थात् सबका हित चाहने वालों को इस आचार धर्म
अनुपालन अवश्य करना चाहिए।[1] प्रसंगतः इसमें वर्ण धर्म, आश्रम
वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म, निमित्तधर्म तथा सामान्य धर्म का विशद प्रति
किया गया है। कर्मों के गुण एवं दोष और चारों वर्णों के परम्परा
सनातन आचार बतलाये गये हैं।[2] इन धर्मों में धृति, क्षमा, दम, अस्ते
शौच इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्र आदि का तत्त्वज्ञान), ज्ञान (आत्मवि
सत्य, अक्रोध — ये दस सामान्य धर्म हैं जो सामाजिक सुव्यवस्था के
नितान्त आवश्यक हैं।[3] इन दशविध धर्मों का अध्ययन करके आच
करने वाले परम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[4]

कामरूप पुरुषार्थ का प्रतिपादन करते हुए भगवान् मनु ने क
कि[5] जीवन के प्रथम चतुर्थ भाग में ब्रह्मचर्य पूर्वक अध्ययन स
करके द्वितीय भाग में धार्मक विधि से विवाह करके गृहस्थ जीवन
करना चाहिए। उसे केवल स्वदार-निरत होकर ऋतुकालाभिगामी
चाहिए।[6] ऐसा काम धर्ममय कहा गया है।

गृहस्थाश्रम में आने पर जीवनयात्रा, परिवार के भरण-पोषण
नित्य-नैमित्तिकादि कर्मों के अनुष्ठान ओर अतिथि सत्कार एवं द
सत्कर्मों के सम्पादन के लिये धन की आवश्यकता होती है। भोग
लिये कदापि अर्थ का संग्रह करना चाहिए। न्यायवृत्तियों से प्राप्त ध

---

1. आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
   तस्मादस्मिन्नसदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥ —मनु॰ 1/108
2. अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
   चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः॥ —मनु॰ 1/107
3. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ —मनु॰ 6/92
4. दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
   अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥ —मनु॰ 6/93
5. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः।
   द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ —मनु॰ 4/1
6. ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
   पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तदव्रतो रतिकाम्यय —मनु .45

भी अधिक संचय करना निषिद्ध है। अतः मनु ने ब्राह्मण को तपस्या एवं त्याग-वृत्ति से रहने का निर्देश दिया है। उसे अश्वस्तंनिक[1] या त्र्यैहिक[2] अथवा कुम्भीधान्य[3] व अधिक से अधिक कुसुलधान्यक होना चाहिए।[4]

द्विजाति से भिन्न के लिये भी धन-संचय का निषेध करते हुए उन्होंने कहा है कि संतोष ही सुख का मूल है और असंतोष ही दुःख का कारण है। अतः अधिक संग्रह करने में संयमी बने [5] यही धर्म है।

वर्ण धर्म, आश्रय धर्म, राज धर्म, आपद्धर्म आदि सभी विषयों का विशद वर्णन करने के पश्चात् भगवान् मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को मोक्ष का अन्त में निरूपण किया है। मानव प्रवृत्त कर्मों के द्वारा स्वर्गादिलोकों में देवों की समानता प्राप्त करता है और निवृत्त कर्मों के सेवन से पञ्चभूतों का अतिक्रमण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।[6] सम्पूर्ण जीवों में आत्मा को आत्मा में सम्पूर्ण चराचर को देखता हुआ आत्म्याजी स्वराज्य ब्रह्मत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।[7]

मनु ने कहा कि इस तरह सम्पूर्ण जीवों में स्थित आत्मा को आत्मा के द्वारा जो देखता है, वह ज्ञानी है। सर्वसमता को पाकर ब्रह्माण्ड परमपद को पा जाता है। इसके विपरीत सब अज्ञानमूज्ञक होने से संसार-सागर में फंसाने वाला कहा गया है।

संसार में मनुष्य जिन परिस्थितियों में हैं, वह उन परिस्थितियों का छुटकारा पाने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। धर्म ही ज्ञान है और अधर्म ही अज्ञान है।

---

1. केवल एक दिन के लिये जिसके पास भोजन सामग्री हो वह अश्वस्तनिक है।
2. केवल तीन दिनों के लिये भोजन सामग्री रखने वाला त्र्यैहिक कहलाता है।
3. वर्ष भर निर्वाह-योग्य धान्य वाले को कुम्भीधान्य कहा गया है।
4. तीन वर्षों तक निर्वाह योगे धान्य वाला कुसूलधान्यक कहलाता है।
5. संतोषं परमास्थायं सुखार्थी संयतो भवेत्।
   सतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ —मनु॰ 4/12
6. प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
   निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ —मनु॰ 12/90
7. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
   समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ —मनु॰ 12/91

द्वितीय अध्याय

अभ्युदय का मुख्य साधन धर्म है, इसके विपरीत जो अवनति कारण है, वह अधर्म कहलाता है। धर्म ही ज्ञान है और अधर्म ही अ है।

आज मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव के कारण शान्ति प्रसन्नता से रहित दुःख के सागर में फंसकर रह गया है। मनुष्य विवेक अज्ञान (अविद्या) से आवृत्त है। अनेक प्रकार के पुण्यकर्म पश्चात् दुर्लभ मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है। जिसके माध्यम से व प्रकार के दुःखों से मुक्ति पाने का सुअवसर प्राप्त करता है। धर्मशास्त्र एवं दर्शन आदि सभी धर्म ग्रन्थों का लक्ष्य जीव को (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) दुःखों से आत्य मुक्ति दिलाना है अर्थात् ज्ञान की ओर ले जाना है। त्रिविध दुः आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर ही जीव परम सुख का अनुभव करता है

दुराचारी मनुष्य संसार में निरन्तर, सर्वदा दुःखी, रोगी और अ होता है।[1] जो-जो कर्म दूसरे के वश में हो उन कर्मों को यत्न करने दे और जो-जो कर्म अपने अधीन हो उन-उन कर्मों का यत्नपूर्वक करें। पराधीन सभी कर्म दुःख देने वाले और स्वाधीन सभी कर्म सुख वाले होते हैं।[2]

मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण स्वीकार किये गये हैं धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, सत्य और क्रोध का त्याग।[3]

इन सभी लक्षणों में धैर्य, क्षमा, अक्रोध और इन्द्रिय-

---

1. दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
   दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ —मनु॰ 4/157
2. (क) यद्यत्परवंश कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेचित्।
   यद्यदात्मवशं तु स्यात्ततत्सेवेत यत्नतः॥ —मनु॰ 4/159
   (ख) सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
   एतद्विद्यात्समासेन लक्षणे सुखदुःखयो॥ —मु॰ 4/160
3. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकधर्मलक्षणम्॥ —मनु॰ 6/92

व्यक्ति के लिए सेवनीय है, अधर्म नहीं[1], धर्म केवल धारण करने का नहीं, बल्कि ज्ञान का विषय है। ज्ञानरहित अनुभूति एवं भावना रूढ़िवादिता, अंधविश्वास एवं मिथ्या विचारों को जन्म देती है। जब तक आदर्श एवं यथार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान अथवा विद्या नहीं होती, तब तक धामक आदर्श व लक्ष्य की पूत नहीं हो सकती, क्योंकि (ज्ञान विद्या) से ही मनुष्य उचित एवं यथार्थ का अनुसरण करने में समर्थ होता है। वृहत्पराशरस्मृति के अनुसार मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। विवेकबुद्धि के कारण ही वह अन्य सभी शरीरों से अधिक महत्ता रखता है। आचरण की विशिष्टता ही उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। आचरण के महत्त्व का ज्ञान होने पर ही विवेक-बुद्धि की तेज़स्विता प्रकट होती है।[2]

गीता की अवधारणा :-

श्री भगवद्गीता शास्त्र का महत्त्व विश्वप्रसिद्ध है। सम्भवतः यही विश्ध्व की एकमात्र ऐसी रचना है, जिसे विश्व में सर्वाधिक जन जानते एवं पढ़ते हैं, और इसका सर्वाधिक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इसलिए विनोबा जी ने उपनिषदों को दादी तथा गीता को माँ कहा है। वस्तुतः जो मानव, जीवन में गीता के सिद्धान्तों पर व्यवहार करते हुए जीवन-यापन करते हैं, उनका इहलोक एवं परलोक दोनों में कल्याण होता है। भगवद्गीता प्रतिपादित दर्शन, कर्ममीमांसा, सामाजिकदर्शन तथा मानवदर्शन एवं ज्ञान का समन्वित रूप है। इसमें धर्म एवं कर्म तथा भोग एवं मोक्ष की समुचित मीमांसा वर्तमान है। निःसन्देह गीता जैसा लोकोपयोगी एवं सरल दार्शनिक ग्रन्थ, जिसमें लोक एवं परलोक की सरल समीक्षा वर्तमान हो, दूसरा नहीं है। इसलिए तो कहा गया है — "सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा। गोपालनन्दनः।"

गीता में प्रतिपादित कर्म दर्शन-जीवन की पूर्ण सफलता की दृष्टि प्रदान करता है। गीता के अनुसार आदर्श मानव निरीह-निष्काम भाव से कर्मसम्पादन करता है। श्रीकृष्ण कर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन यही उपदेश देते हैं,

---

1. सदैव धर्मः परमः सेव्यो नाधर्म उच्यते।
   धर्ममार्गेण सर्वैस्तैः गन्तव्यो नान्यमार्गतः ॥ —क॰स्मृ॰, पृ॰ 2599, श्लो॰ 749
2. धर्मशास्त्रतीय विचारधारा का आधार, पृ॰ 343

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन गुणों द्वारा दोष को समूल नष्ट किया सकता है। किसी भी दोष का शमन उसी दोष द्वारा नहीं किया जा सक जैसे क्रोध का शमन अक्रोध से तथा दुःखों पर विजय धैर्य से ही जाती है। धर्म ही मनुष्य का एक मात्र सहायक बताया गया है परलो माता-पिता, स्त्री और सम्बन्धी सहायता के लिए नहीं रहते, केवल ध सहायक होता है।[1] यदि प्राणी प्राप्त हुए शरीर में धर्म अधिक पाप-कर्म थोड़ा करता है तो वह स्वर्गीय-सुख का उपभोग करता है यदि पाप कर्म अधिक और पुण्यकर्म कम करता है तो उन्हीं पञ्चभू व्यक्त होकर (अज्ञान के कारण) यम-यातनाओं को भोगता है।[2]

इस प्रकार धर्म और अधर्म अर्थात् ज्ञान और अज्ञान के हुई इन गतियों को देखकर धर्म अथवा पुण्यकर्म ही श्रेष्ठ माना गय अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकुटिलता ये पाँच यम म अनुसार प्रतिपादित किए हैं।[3]

पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उप मौन और स्नान – ये दस नियम हैं जो मनुस्मृति में बतलाये गये हैं।[4]

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार धर्म से तात्पर्य प्रत्येक विषय सीमित उपयोग से है। धर्म में अर्थ, कर्म और मोक्ष आते हैं। इनके स धर्म पुरुषार्थ-चतुष्ट्य भी कहा जाता है। अर्थ और काम से तात्पर्य और इच्छाओं से है।

कपिलस्मृति के अनुसार, धर्म मानव-जीवन में एक व्यापक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका प्रमुख उद्देश्य ज्ञान वृद्धि करना है (का अर्थ यहाँ पर ज्ञान है और अधर्म का अर्थ अज्ञान है)। धर्म प्र

1. नामुत्र हि सहायार्थ पिता माता च तिष्ठतः।
   न पुत्रदारा न ज्ञातिः धर्मस्तिष्ठाति केवलः॥ –मनु॰ 4/239
2. धर्म शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
   परलोकसहायतार्थ सर्वभूतान्यपीडयन्॥ –मनु॰ 4/238
3. अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
   अस्तेयमिति पंचैते यमाश्चोपव्रतानि च॥ –मनु॰ 4/11
4. शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
   व्रतोपवासौ मौनं स्नानं च नियमा दश॥ –मनु॰ 4/12

कि अर्जुन तेरा अधिकार कर्म में है, उसके फलों में नहीं एवञ्च कर्मफल का हेतु नहीं होना चाहिए और न तेरी आसक्ति अकर्म अर्थात् अनुचित कर्म में अपेक्षित है।[1] किन्तु यहाँ समस्या उत्पन्न होती है, कि कर्म एवं अकर्मका निर्णय किस प्रकार हो इस सम्बन्ध में गीता का अन्तर्यामित्व पूर्णतया सहायक है। गीता के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में वर्तमान है।[2]

अतः प्रत्येक प्राणी ईश्वर से सत्कर्म की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है, किन्तु मनुष्य की यह दुर्बलता है कि वह कर्म के अनौचित्य को जानते हुए भी स्वार्थवश उसका सम्पादन करता है यही उसका अज्ञान है। गीता का यह उपदेश है कि मनुष्य के कर्म करने के पूर्व निश्चयात्मिका बुद्धि बनानी चाहिए। कर्म की निश्चित न होने पर कर्म का सम्पादन यथावत् सम्भव नहीं हो सकता है। गीता का यह कर्म भी ध्यातव्य है, कि गीता अकर्मण्यता का उपदेश कभी नहीं करती है; (न कर्मणाम नारम्भात् नैष्कर्म्य पुरुषोऽश्नुते) साथ में गीता में यह भी कहा गया है कि बिना कर्म किए कोई व्यक्ति क्षण भर भी नहीं रह सकता।[3] गीता कर्म से विरति का पाठ नहीं सिखाती, अपितु कर्म करते हुए अनासक्ति का उपदेश देती है।[4]

इस प्रकार गीता का अनासक्ति-कर्म योग ही निष्काम कर्मयोग है। वस्तुतः गीता का आरम्भ ही आसक्ति एवं मोह से होता है। अर्जुन अपने परिवारिकों में आसक्ति एवं मोह के कारण उनके साथ धर्म युद्ध करने से कतराता है, जो क्षत्रिय का परमश्रेयस्कर धर्म है — धर्म्याद हि अन्यत् श्रेयो क्षत्रियस्य न विद्यते। गीता का उपदेश श्रवण के पश्चात् अर्जुन यही

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
   मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ —भ०गी० 2/47
2. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
   भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ —भ०गी० 18/61
3. न हि कश्चित्क्षणमपि ज़ातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —भ०गी० 3/5
4. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
   स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥ —भ०गी० 6/1

कहता है।[1] यह मेरा मोह समाप्त हो गया देखा जाए, तो समस्त संसारि क्लेशों का कारण मोह ही है।[2] यह मोह ही अज्ञान कहा गया है, संसृति चक्र का कारण बनता है।

इस अज्ञान की निवृत्ति के लिये ज्ञान का होना आवश्यक है ईश्वर की भक्ति अथवा ज्ञानयोग से सम्भव है। भागवत में नवधा भि का विवेचन है। भक्ति एवं ज्ञान दोनों का मूल श्रद्धा है। भक्त को अप सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर देना चाहिए। इस प्रकार गीता के अनु जो व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को सर्मपत कर देते हैं त तत्परायण होकर अनन्यभाव से ईश्वर का ध्यान करते हुए, उस उपासना करते हैं उनका परमेश्वर संसार सागर से उद्धार करते हैं।[3]

गीता के उपदेश की यह विशेषता बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि जो भाव से भगवान् का ध्यान करते हैं वे उसी भाव से उसे प्राप्त होते हैं प्रकार भक्त एवं ज्ञानी सभी भगवान् को प्राप्त करते हैं। ज्ञान, ध्यान कर्मफलत्याग भावना में करते हुए गीता में कहा गया है कि अभ्यास ज्ञान, ज्ञान से ध्यान तथा ध्यान से कर्मफलत्याग भावना श्रेष्ठ है।[5] कर्मफलत्याग को श्रेष्ठ कहने का यही तात्पर्य है कि उत्तम साधनों अनुष्ठान में असमर्थ होने पर "सर्वकर्मफलत्याग" साधन भी अनुष्ठेय है

---

1. मदनुग्रह्यय परमं गुह्यमध्यात्मसज्ञितम्।
   यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम्॥ —भ॰गी॰ 11/1
2. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
   स्थितोऽस्मि गतसदेहः करिष्ये वचनं तव॥ —भ॰गी॰ 18/73
3. (क) ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
   अनन्येयैव योगेन माँ ध्यायन्त उपासते॥ —भ॰गी॰ 12/6
   (ख) तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
   भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ —भ॰गी॰ 12/7
4. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
   मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। —भ॰गी॰ 4/11
5. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
   ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ —भ॰गी॰ 12/12
6. सम्पन्नसाधनानुष्ठानाशक्तौ अनुष्ठेयत्वेन श्रुतत्वात्॥ —शा॰भ॰गी॰ 12/12

भक्त के लक्षण बताते हुए गीता में कहा है कि भक्त किसी से भी द्वेष नहीं करता अर्थात् विद्यायुक्त पुरुष से द्वेष नहीं करता, सभी के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता है तथा दुःखियों के प्रति करुणापूर्ण दृष्टि से व्यवहार करता है। भक्त ममत्व एवं अहंकार रहित दुःख एवं सुख में समभाव से रहने वाला तथा क्षमाशील होता है।[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं, कि जो सदा सन्तुष्ट रहता है, समाहित चित्तवाला है तथा आत्मतत्त्व में दृढ़ निश्चय रखता है, तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझ में अंपत कर देता है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।[2] जिससे न संसार दुःखी होता है और न जो संसार से क्षुब्ध होता है तथा हर्ष, अमर्ष, भय एवं उद्वेग से मुक्त है, वह मेरा प्रिय है।[3] जो निःसपृह पवित्र, दक्ष अर्थात् स्तुत्यकर्म से चतुर, उदासीन, निर्भय तथा फलभाग के लिए किए जाने वाले कर्मों का त्याग करने वाला है, वही भगवान् का प्रिय भक्त है।[4] जो किसी वस्तु की प्राप्ति से र्हषत होता है, जो अनिष्ट की प्राप्ति से दुःखी नहीं होता, जो इष्ट की अप्राप्ति से शोकाकुल नहीं होता और न किसी प्रकार की आकांक्षा करता है, वह मेरा प्रिय भक्त है।[5] भक्त की विशेषताएं बतलाते हुए गीता में कहा गया है कि भक्तिमान् पुरुष शत्रु तथा मित्र में समान व्यवहार करने वाला, सम्मान एवं अपमान की स्थिति में समान स्थिति वाला तथा शीत, उष्मा एवं अपमान की स्थिति में समान स्थिति वाला एवं आसक्ति से रहित होता है। भक्त किसी की निन्दा सुनकर प्रसन्न नहीं होता तथा जो स्थिर बुद्धि है,

1. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
   निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ —भ॰गी॰ 12/13
2. संतुष्ट संततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
   मर्य्यपतमनोबुद्धियों मद्भक्तः स मे प्रियः॥ —भ॰गी॰ 12/14
3. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
   हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ —गी॰ 12/15
4. अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
   सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ —भ॰गी॰ 12/16
5. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
   शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ —भ॰गी॰ 12/17

ऐसा भक्त भगवान् का प्रिय होता है।[1] यहाँ यह विचारणीय है कि भगवा
श्रीकृष्ण ने जहाँ एक ओर ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मु
अतिशय प्रिय है इस प्रकार कहा है।[2] वहाँ भक्त को भी अतीव प्रिय क
गया है।[3] इस प्रकार गीता में दोनों को ही समान महत्त्व प्रदान किया ग
है।

जिस प्रकार भक्ति योग का प्रतिपादन गीता में वर्तमान है, उ
प्रकार ज्ञानयोग का विवेचन भी गीता में किया गया है। ज्ञानयोग
आत्मतत्त्व के ज्ञान का आशय है। आत्मतत्त्व का निरूपण करते हु
द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि आत्मा, नित्य, शाश्वत एवं सनात
है.।[4] आत्मतत्त्व के उपदेश के द्वारा अर्जुन को यही कहा गया है कि व
बान्धवों के साथ कर्त्तव्य युद्ध करने से पराङ्मुख न हो, क्योंकि आत्मा
सर्वथा अवध्श है।[5] गीता में आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी तो मे
स्वरूप ही है।[6] भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है
ज्ञाननिष्ठसाधक वन, नदीतीरादि एकान्त देश का सेवन करने वाल
थोड़ा-हल्का भोजन करने वाला, मन, वचन एवं शरीर पर संयम रख
वाला, ध्यानयोग में तत्पर तथा वैराग्यवृत्तिवाला होता है।[8] (ब्रह्मवि

1. तुल्यनिन्दार्स्तुतमौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
   अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ —भ॰गी॰ 12/19
2. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
   प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय॥ —भ॰गी॰ 7/17
3. ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
   श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ —भ॰गी॰ 12/20
4. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। —भ॰गी॰ 2/20
5. देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
   तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ —भ॰गी॰ 2/30
6. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
   प्रियो हि ज्ञानिंनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ —भ॰गी॰ 7/17
7. उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव में मतम्।
   आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ —भ॰गी॰ 7/18
8. विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः।
   ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ —भ॰गी॰ 18/52

ब्रह्मैव भवतिं) के अनुरूप ब्रह्मज्ञानी सदैव आनन्दित रहता है। वह न शोक करता है और न उसकी कोई आकांक्षा होती है। ऐसा ज्ञानी समस्त प्राणियों में समान भाव से व्यवहार करता है।[1] गीता के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में वर्तमान् है। अन्तर्यामी ईश्वर सभी को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ, उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार खिलाड़ी यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतलियों को चलाता है।[2] यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि ईश्वर प्राणियों को किस लिए भ्रमित करता है। यहाँ यह विचारणी है कि सभी प्राणी निज-निज पूर्वकर्म एवं संस्कार तथा वृत्ति के अनुसार संसार चक्र में भ्रमण करते हैं। ईश्वर तो अधिष्ठान एवं साक्षी मात्र है। गीता में ईश्वर को उपद्रष्टा (साक्षी) अनुमन्ता भर्ता (भरण-पोषण, कर्ता) तथा भोक्ता है[3] यहाँ अनुमन्ता का अर्थ अनुमोदनकर्ता सा प्रतीत होता है, ऐसा लेना चाहिए। शंकराचार्य ने भी इस अर्थ का उल्लेख किया है।[4] क्योंकि ईश्वर हमारे असत् कर्मों का अनुमोदन नहीं करता, वह तो साक्षी होने के कारण अनुमोदन करता-सा प्रतीत होता है।

जब व्यक्ति की बुद्धि, समाधि अर्थात् आत्मा में स्थित हो जाती है[5], तो वह स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि वर्णन है, स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त ही है। जब साधक समस्त मनोगत कामनाओं का त्याग करके अन्तरात्मस्वरूप में सन्तुष्ट रहता है, तो वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।[6]

---

1. समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्। —भ॰गी॰ 18/54
2. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
   भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ —भ॰गी॰ 18/61
3. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
   परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष परः॥ —भ॰गी॰ 13/2
4. अथवा अनुमन्ता कार्यकारणप्रवृत्तिषु स्वयं अप्रवृतः इव
   तदनुकूलो विभाव्यते तेन अनुमन्ता। —शां॰ भा॰गी॰ 13/22
5. समाधि आत्मा। —शां॰ भा॰गी॰ 2/54
6. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
   आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ —भ॰गी॰ 2/55

स्थितप्रज्ञ, दुःख की स्थिति में अनुद्विग्न, सुख में निःस्पृह तथा राग, भय एवं क्रोध से रहित स्थितबुद्धि मुनि कहलाता है।[1] स्थितप्रज्ञ को न शरीर के प्रतिमोह होता है और न जीवन के प्रति न वह शुभ को पाकर प्रसन्न होता है और न अशुभ को पाकर खिन्न होता है। इस प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष, जब समस्त कामनाओं का त्याग करके निःस्पृह रूप से व्यवहार करता है तथा ममत्व एवं अहंकार से रहित हो जाता है, तो मोक्षस्वरूप शान्ति को प्राप्ति होता है।[2] यही ब्राह्मी स्थिति है।[3]

अतः गीता के अनुसार सब की आत्मा एक परमेश्वर है यही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान अथवा विद्या है। ऐसा जीव समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखता है और यही मोक्ष अथवा पूर्ण सन्तुष्टि रूप परमानन्द का मार्ग है।[4] इसके विपरीत शरीरादि अनात्म में आत्माभिमान पूर्वक सभी अनुभव अथवा कृत्य अज्ञान है, जो भवचक्र में फंसाने वाला है।

5. महाकाव्य और लोकमत :-

महाकाव्य में रामायण और महाभारत भारतीय महाकाव्यों में उच्चकोटि के माने जाते हैं। काव्यकला की दृष्टि से भी सर्वोच्च कोटि का तथा आदर्श गार्हस्थ्य-जीवन, आदर्श राजधर्म, आदर्श पारिवारिक जीवन, आदर्श पतिव्रतधर्म, आदर्श भ्रातृधर्म के साथ-साथ सर्वोच्च भक्ति, विद्या (ज्ञान), त्याग, वैराग्य तथा सदाचार की शिक्षा देने वाला, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध और युवा सबके लिए समान विद्या प्रदान करने वाले एवं आदर्श मानवलीला तथा उनके गुण, प्रभाव, रहस्य तथा प्रेम के

---

1. (क) दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
   वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ —भ॰गी॰ 2/56
   (ख) यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
   विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्तएव सः। —भ॰गी॰ 5/28
2. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरित निःसपृहः।
   निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ —भ॰गी॰ 2/71
3. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
   स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। —भ॰गी॰ 2/72
4. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गंत्यकत्वा धनंजय।
   सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ —भा॰गी॰ 2/48

गहन तत्त्व को अत्यन्त सरल, रोचक एवं ओजस्वी शब्दों में व्यक्त करने वाले अन्य कोई दूसरे महाकाव्य नहीं है। वर्तमान समय में तो सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है सारा संसार अविद्या के कारण अज्ञान एवं अशान्ति की भीषण ज्वाला से चल रहा है। जगत् के कोने-कोने में मारकाट मची हुई है और प्रतिदिन हज़ारों मनुष्यों का संहार हो रहा है। करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति एक-दूसरे के विनाश के लिये खर्च की जा रही है। संसार में सुख-शान्ति, विद्या एवं प्रेम का प्रसार करने के लिए रामायण और महाभारत इन दोनों महाकाव्यों में ज्ञान और अज्ञान को जानने के लिए आवश्यक बताया गया है। इन महाकाव्यों में ज्ञान और अज्ञान का विषय विस्तार से दिया गया है।

रामचरितमानस के बालकाण्ड में बताया गया है कि भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप सूर्य है अथवा ज्ञान है। वहाँ मोहरूपी रात्रि का लवलेश भी नहीं है। वे स्वभाव से ही प्रकाशरूप और ऐश्वर्यमय है। वहाँ तो विज्ञानरूपी प्रातःकाल भी नहीं होता। यदि अज्ञानरूपी रात्रि हो तभी विज्ञानरूप प्रातःकाल हो। भगवान् तो नित्य (विद्या) ज्ञानस्वरूप है।[1] विद्याहीन (अज्ञानी) मनुष्य अपने भ्रम को तो समझते नहीं और वे मूर्ख प्रभु पर आरोप करते हैं। जैसे आकाश में बादलों का पर्दा देखकर कुविचारी (अज्ञानी) लोग कहते हैं कि बादलों में सूर्य को ढक लिया है।[2] जन्म-मरण, सुख-दुःख के भोग, हानि-लाभ प्रियों का मिलना-बिछुड़ना, ये सब काल और कर्म के अधीन रात अज्ञान और दिन (ज्ञान) की तरह बरबस होते रहते हैं।[3] अरण्यकाण्ड में इन्द्रियों के विषय में बताया गया है कि इन्द्रियों के विषय को और जहाँ तक मन जाता है, उस सबको माया मानना चाहिये। उसकी भी ज्ञान और अज्ञान हैं परन्तु इन दोनों में भेद है[4]

1. राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहि तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवानु॥ नहिं तहं पुनि विग्यान बिहाना। —बा०का० 115/3
2. निज भ्रम नहिं समुझाहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झांपेउ भानु कहहिं कुविचारी॥ —बा०का० 116/1
3. जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन वियोग॥
काल करम बस होहिं गोसाई। बरबस राति दिवस की नाई॥ —अयो०का० 149/3
3. गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सवमाया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥ —अ०का० 14/2

एक (अज्ञान) दुष्ट (दोषयुक्त) है और अत्यन्त दुःखस्वरूप है, जिसके वश होकर जीव संसाररूपी कुएँ में पड़ता है और ज्ञान है, जिसके वश में गुण है और जो जगत् की रचना करती है, वह प्रभु से ही प्रेरित होती है उसका अपना बल कुछ भी नहीं है।[1] जो माया (अज्ञान) को, ईश्वर को और स्वरूप को नहीं जानता, वही जीव कहलाता है। जो बन्धन और मोक्ष देने वाला, सबसे परे और माया का प्रेरक है, वह ईश्वर है अर्थात् वही ज्ञान है।[2] सब प्रकार से बलवती माया भगवान् के सामने अत्यन्त भयभीत हाथ जोड़े खड़ी रहती है। जीवकों को वह माया नचाती है और भक्ति उस जीव को माया से छुड़ा देती है।[3]

श्री वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में माया रूपी मृग का वर्णन मिलता है जब सीता जी ने उस मृग को इधर-उधर घूमते हुए देखा तो अपनी विशुद्ध वरर्वणनी सीता जी ने आयुध धारण किये हुए रामचन्द्र व लक्ष्मण जी को पुकारा है आर्यपुत्र! लक्ष्मण के सहित शीघ्र आओ और इस स्वर्णरूपी मृग को देखो जो अभी-अभी मेरे सामने से गुज़र रहा है।[4] मृग को देखते ही लक्ष्मण जी को शंका हो गई और श्री रामचन्द्र जी से कहने लगे कि महाराज ऐसे जान पड़ता है कि यह मृग रूपी निशाचर मारीच है। यह पापात्मा मारीच मृगरूप धारण करके परमहर्षसहित आखेट को वन में आये हुए राजा लोगों को मारता है। यह राक्षस "माया" का जानने वाला है; इसमें माया के बल से इस प्रकार का मृगरूप धारण कर लिया है। हे पुरुषसिंह! मृगरूप गन्धर्व नगर के समान अब रमणीय और परमदीप्तियुक्त है, परन्तु वास्तव में यह मृग नहीं है।[5] क्योंकि इस प्रकार

---

1. एक दुष्ट अतिसय दुःखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
   एक रचइ जग गुण बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥ —अ॰का॰ 14/3
2. माया ईस न आपु कहुं जान कहिअ सो जीव।
   वंध मोच्छ प्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव॥ —अ॰का॰ दो॰ 15
3. देखी माया सब विधि गाढ़ी। अतिसभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
   देखा जीव नचाबइ जाहीं। देखी भगति जो छोरइ ताहीर॥ —बा॰का॰ दो॰ 201/2
4. आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते।
   आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज॥ —वा॰रा॰अ॰का॰स॰ 43, श्लो॰ 3
5. मृगो होववियो रत्नविचित्रो नास्ति राघव।
   जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः॥ —वा॰रा॰अ॰का॰स॰ 43, श्लो॰ 8

का रत्न चित्रित मृग कभी पृथ्वी पर नहीं हो सकता। यह निश्चय ही माया इसमें कोई सन्देह नहीं।[1] जब लक्ष्मण जी इस प्रकार कहने लगे तब मुस्कराई हुई सीता जी ने राक्षस के छल से मोहित हो लक्ष्मण जी को इस प्रकार कहने से रोक दिया और कहने लगीं कि हे आर्यपुत्र! इस मृग ने हमारे मन को मोह लिया है। इसको पकड़कर लाओ। रामायण के इस प्रसङ्ग से ही स्पष्ट होता है कि "माया" से सामान्य जीवों की तो बात ही क्या? बड़े से बड़े बुद्धिमान् भी मोहित हो जाते हैं। महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में वसिष्ठकरालजनक संवाद में बताया गया है कि मुनियों ने सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाले कार्यसहित अव्यक्त को ही अज्ञान कहा है तथा चौबीस तत्त्वों से परे जो पच्चीसवाँ तत्त्व परम पुरुष परमात्मा है; जो सृष्टि और प्रलय से रहित है, उसी को ज्ञान कहते हैं।[2] सांख्यदर्शन और महाभारत के मत एक जैसे ही हैं। ऋषियों ने जिस प्रकार सांख्य दर्शन की बात बतायी है, उसी प्रकार अव्यक्त का जो पारस्परिक भेद है, उनमें ज्ञान श्रेष्ठ बताया गया है। समस्त कर्मेन्द्रियों का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियाँ माना गया है अर्थात् कर्मेन्द्रियों से ज्ञानन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और ज्ञानेनिद्रयों का ज्ञान पञ्चमहाभूत है।[3] विद्वानों का मत है कि स्थूल पञ्च भूतों की सूक्ष्म पञ्चभूतों का ज्ञान अहंकार है, इसमें कोई संशय नहीं है तथा अहंकार का ज्ञान बुद्धि माना गया है।[4] अव्यक्त नामवाली जो परमेश्वरी प्रकृति है, वह सम्पूर्ण तत्त्वों का ज्ञान है। वह ज्ञान जानने योग्य है। इसी को ज्ञान की परम विधि कहते हैं।[5]

पच्चीसवें तत्त्व के रूप में जिस परम पुरुष परमात्मा की चर्चा की

---

1. एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्यशुचिस्मिता। —वा॰रा॰अ॰का॰स॰ श्लो॰ 9
2. अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयर्धम वै।
सर्गप्रलयनिर्मुक्ता विद्यां वै पञ्चविंशकः॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/2
3. कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषांविद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम्।
बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/4
4. अहङ्कारस्य भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः।
अहङ्कारस्य च तथा बुर्द्धिवद्या नरेश्वर॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/6
5. विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी
विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/7

गयी है, उसी को अव्यक्त प्रकृति की परमज्ञान बताया गया है। वाशि
जी करालजनक राजा को बताते हैं कि वही सम्पूर्ण ज्ञान का सर्वरूप
है। परम पुरुष ज्ञेय बताया गया है, उसी प्रकार ज्ञान अव्यक्त है
उसका ज्ञाता परम पुरुष है। प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अक्षर
गया है तथा ये ही दोनों क्षर भी हैं। वाशिष्ठ जी के अनुसार ये दोनों
अनादि और अनन्त हैं। अतः परस्पर संयुक्त होकर दोनों ही ईश्वर
गये हैं। सृष्टि और प्रलय प्रकृति का धर्म है। इसलिए प्रकृति को
कहा गया है। वही प्रकृति महत्त्व आदि गुणों की सृष्टि के लिये बार
विकार को प्राप्त होती है, इसलिए उसे क्षर भी कहा गया है।[1]

योगी अब अपने योग के प्रभाव से प्रकृति के गुणसमूह
अव्यक्त मूल प्रकृति में विलीन कर देता है, तब उन गुणों का विलय
के साथ-साथ पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मा में मिल जाता है।
दृष्टि से उसे भी क्षर कह सकते हैं।[2]

मूल प्रकृति में विलीन कर देता है, तब उन गुणों का विलय
के साथ-साथ पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मा में मिल जाता है।
दृष्टि से उसे क्षर कह सकते हैं। जब कार्यभूत गुण कारण भूत गु
लीन हो जाते हैं, उस समय सब कुछ एकमात्र प्रकृतिस्वरूप हो जात
तथा जब क्षेत्रज्ञ भी परमात्मा में लीन हो जाता है; तब उसका भी पृ
अस्तित्व नहीं रहता। उस समय त्रिगुणमयी प्रकृति क्षरत्व को प्राप्त
है और पुरुष भी गुणों में प्रवृत्त न होने के कारण निर्गुण हो जाता है।[3]

ज्ञानवान् पुरुष जब यह जान लेता है कि "मैं अन्य हूँ" और
प्रकृति मुझसे भिन्न है", तब वह प्रकृति से रहित हो जाने से अपने
स्वरूप में स्थित हो जाता है। जिस समय जीवात्मा को विवेक होता

1. सर्गप्रलय धर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम्।
तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/13
2. यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत्।
तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/15
3. तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता।
निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात्॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/17

स समय वह ज्यों विचार करने लगता है कि मैंने यह क्या किया? जैसे छली अज्ञानवश स्वयं ही जाकर जाल में फंस जाती है, उसी प्रकार णी भी आज तक इस प्राकृत शरीर का ही अनुसरण करता रहा।[1] जिस कार मत्स्य पानी को ही अपने जीवन का मूल समझकर एक जलाशय दूसरे जलाशय को जा:ता है उसी तरह प्राणी भी मोहवश एक शरीर से सरे शरीर में भटकता रहता है।

जिस प्रकार मत्स्य अज्ञानवश अपने को जल से भिन्न नहीं मझता, उसी प्राणी भी अपनी अज्ञाता के कारण इस प्राकृत शरीर अपने भिन्न नहीं समझता[2] नित्य ज्ञानसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा है, वही बुद्ध है था जो परमात्मतत्त्वको न जानने के कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी ध्यमान" संज्ञा दी गई है। कबीरदास जी ने अज्ञान को माया नाम से कारा है उनका मानना है कि माया दुराचारिणी है, जो संसार को अपने ल में फंसाने के लिये अपने अनेक प्रकार के जाल बिछाती है। सारे सार को इसने अपने जाल में पकड़ लिया है। इस जाल से छुटकारा वही सकता है, जिसके पास ज्ञान है। उनका मानना है कि जिसके पास ज्ञान हीं है, उनके लिये वह कहते हैं कि यह माया (अज्ञान) रूपी वेश्या सार को अपनी ओर आर्कषत करती है। यह माया बड़ी दुष्टा है, जो वात्मा को ईश्वर से विमुख कर देती है अर्थात् ज्ञान से अज्ञान की र ले जाती है।[3] यह माया इतनी आकर्षक है कि इसके जाल में चतुर र ज्ञानी मनुष्य भी पड़ जाते हैं। कबीर जी कहते हैं कि माया उसी कार मोहक और मधुर है जैसे कि खाँड होती है। यदि मनुष्य पर सत्गुरु कृपा नहीं होती, तो यह उसे भ्रमित कर देती है।[4] अज्ञान (माया),

---

किं मया कृतमेतावद योऽहं कालामिमं जनम्।
मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुर्वततवानिह॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 23

मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते।
आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम॥ —म॰भा॰, मो॰प॰, 307/25

कबीर माया पापर्णी, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम॥ —क॰ग्रं॰, अ॰ 16, दो॰ 4

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाण।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड़॥ —क॰ग्रं॰, अ॰ 16, दो॰ 7

मनुष्य को ऐसे नचाती है जैसे जादूगर अपना कोई जादू दिखाता है। जो माया की ओर आर्कषित नहीं होता, वही मुक्ति पाता है। कबीरदास ने माया को मोहिनी का रूप दिया है। यह उनके हाथों में नहीं आती जो इसकी इच्छा करते हैं; लेकिन जिन ईश्वर के साधकों ने इसको समझ लिया है, उनके यह पीछे-पीछे भागती फिरती है।[1] यह माया वृक्षसत् रज, तम तीन गुणों से बना है। दुःख और सन्ताप ही इसकी शाखायें हैं। इस वृक्ष के नीचे शीतलता तो स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकती। इसका फल भी फीका है और शरीर को ताप देने वाला है।[2] संसार में जीवात्मा की आँखों पर माया और मोह का अन्धकार छाया हुआ है। जो लोग इस मायारूपी अन्धकार में सावधान न रहकर सुप्तावस्था को प्राप्त करते हैं वह ठग लिए जाते हैं और ज्ञान से वंचित रह जाते हैं।[3] उनका मानना है कि मनुष्य का जीवन कागज़ की नाव के समान है और यह संसाररूपी गंगा माया के पानी से ओतप्रोत है। यदि अकेला होता तो शायद पार भी कर लेता, लेकिन पाँच दुष्ट (काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ), जो देहरूपी नाव को अवश्य डुबो देंगे।[4] इसलिये कबीर जी कहते हैं कि मनुष्य को माया (अज्ञान) के विचित्र व कपटी रूप को जानकर ज्ञान (विद्या) के माध्यम से भगवान् की प्राप्ति के लिये यत्नशील रहना चाहिये, अन्यथा संसार चक्र से छुटकारा सम्भव नहीं हो सकता।

गुरु नानक देव :-

गुरु नानक देव जी भी अज्ञान को त्यागने और ज्ञान प्राप्ति के लिये भगवान् की शरण ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। यह

---

1. कबीर माया मोहनी, मांगि मिलै न हाथि।
   मनह उतारी जूठ करि, तब डोलै साथि॥ —क॰ग्र॰, अ॰ 16, दो॰ 9
2. माया तरवर त्रिविध का, साखा दुःख सन्ताप।
   सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकौ तनि ताप॥ —क॰सा॰सा॰, अ॰ 16, दो॰ 20
3. कबीर माया मोह की, भई अंधारी लोई।
   जे सूते ते मुसि लिये, रहे वसत कू रोइ॥ —क॰सा॰सा॰, अ॰ 16, दो॰ 24
4. कागद केरी नाव री, पाणी केरी गंग।
   कहे कवीर कैसे तिरु, पंच कुसंगी संग॥ —क॰सा॰सा॰, अ॰ 13, दो॰ 21

नोह–माया) मनुष्य को ममता के जाल में उलझा कर उसे नाम–स्मरण
रने से दूर रखती है। उनका मानना है कि यह सांसारिक अज्ञान रेत की
वार के समान है, अस्थिर है और ज्ञान भगवान्‌रूपी है। आत्मज्ञान के
रा ही उस प्रभु को पहचाना जा सकता है। गुरु की कृपा से उस प्रभु का
र्शन सम्भव है। गुरु कृपा से अज्ञान तथा संशय का भाव मिट जाता है
ौर व्यक्ति इस संसार रूपी सागर से पार उतर जाता है।

गुरु नानक देव जी संसारी मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कहते हैं
ख्य कार्य इस संसार ज्ञान को प्राप्त करना है। इसलिए मोह–माया रूपी
ज्ञान का साथ छोड़कर ईश्वर की शरण में लीन हो जाना चाहिये। यह
ांसारिक सुख, सम्मान सब झूठे हैं। सारे साज–बाज भी झूठे हैं।
न–दौलत को स्वप्न के समान समझना चाहिय क्योंकि यह अस्थायी हैं।
ही अज्ञान का कारण हैं। शरीर नष्ट हो रहा है। जैसे पल–पल करके
ल व्यतीत हो गया है, वैसे ही आज व्यतीत हो रहा है।[1] उनका कहने
ा अभिप्राय यह है कि मनुष्य का सांसारिक जीवन केवल मोह–माया का
ीवन है। इससे कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

गुरु नानक देव जी कहते हैं कि अब मैं इस संसाररूपी सागर
कौन सा उपाय ढूँढू जिससे मन का संशय अथवा भ्रम नष्ट हो
ाए और मैं संसाररूपी सागर से पार उतर जाऊँ क्योंकि मैंने जन्म
ाकर ज्ञान का सहारा ही नहीं लिया और अज्ञान के पीछे मस्त रहा
सलिए अधिक भयभीत हूँ। गुरु की शिक्षा से मेरे भीतर किसी
कार का ज्ञान का उदय नहीं हुआ। मैं तो पशु के समान ही पेट

राम सुमिर, राम सुमिर, एही तेरो काज है।
माया कौ संग त्याग, हरिज की सरन लाग।
जगत् सुख मान मिथ्या, झूठी सब साज है॥
सूपने ज्यों धन पिछान काहे पर करत मान
बारु की भीत तैसे, बसुधा कौ राज है।
नानक जन कहत वात विनसि जैहै तेरो गात॥
छिन–छिन करि गयौ काल्ह, तैसे जात आज है॥ गु.न.दे. अ. 2, दो. 1, 2, 3

भरता रहा हूँ। इसलिए मुझे डर लग रहा है कि मैं इस अज्ञान
संसार से पार कैसे उतर पाऊँ।[1]

कविवर तुलसीदास जी कहते हैं :- कि जीव प्रभु की कृ
बिना अज्ञान अथवा मोह-माया से मुक्त नहीं हो सकता। बिना भक्ति
रहस्य जाने भवसागर को पार नहीं किया जा सकता। केवल दीप
चर्चा करने से अन्धकार दूर नहीं होता, भूखे व्यक्ति को जैसे :
का चित्र भोजन नहीं दे सकता। उसी प्रकार जब तक हृदय में ज्ञ
प्रकाश नहीं फैलता, तब तक मनुष्य भटकता ही रहता है।

यह संसार पाप, निर्धनता तथा मानसिक कष्टों के कारण
है। अतः भगवान् ही ज्ञानरूपी प्रकाश देकर संसार के दुःखों से छु
दिला सकते हैं बिना ज्ञान के प्राणी इस संसार में ऐसे तड़पता है
बिना पानी मछली तड़पती है। ज्ञान से ही मुक्ति मल की प्राप्ति हो

समर्थ गुरु रामदास जी कहते हैं कि हमारा जीवन ऐसा
चाहिए कि संसार में हम किसी का भी बुरा न करें, न सोचें। हम
किसी को भी कष्ट न हो। सारी बातें तब हो सकती हैं, जब हमारे
ज्ञान होगा। ज्ञान के बिना यानि अज्ञान के रहते यह सब करना
है।[3] संसार का संयोग अनित्य है और असत् है पर संसार का
नित्य और सत् है। संसार का ज्ञान संसार के वियोग से ही होता है
परमात्मा का ज्ञान परमात्मोक के योग से है। जो कर्म कामना को
किये जायें, वे सब अशुभ कर्म हैं अथवा अज्ञानजनक कर्म हैं। कर्म
बन्धन है, बन्धन से अज्ञान है और अज्ञान की अविद्या है और नि
मुक्ति अथवा ज्ञान है। दुःख नहीं मिटता। जैसे कोई जिस मका
अपना मान लेता है, अगर उसमें कोई कोयले की लकीर खींच

1. अब मैं कौन उपाय करूँ।
   जोहि विधि मन को संसय छुटै, भव-निधि पार करूँ
   जनम पाय कछु भलौ न कीन्हो, तातें अधिक डरूँ।
   गुरुमत सुन कछु ग्यान न उपजौ, पसुवत उदर भरूँ।
   कह नानक, प्रभु बिरद पिछानौ, तब हौ पतित तरूँ। —न॰भा॰भा॰ 1, अ॰
2. ज्ञान के दीप जले, पृ॰ 18
3. द्रष्टव्य पृ॰ 383, रा॰ कु॰ली॰प्र॰द्वि॰ख॰

दुःख होता है। अगर उस मकान को जब हम बेच देते हैं, तो फिर वह मकान टूटने भी गलता है, नष्ट हो जाता है, तब भी हमें कोई दुःख नहीं होता। यह जो दुःख होना और न होना ही ज्ञान और अज्ञान है।

स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस के अनुसार पराशक्ति ही जगत् की सृष्टि स्थिति संहार करने वाली है। वह ही शुद्धचार एवं शुद्ध व्यवहार से प्रसन्न होने पर जीव को शुद्ध ज्ञान प्रदान करती हैं और कुमार्ग पर चलने वालों को अज्ञान के गर्त में धकेल कर संसार चक्र में घुमाती रहती है। यह ज्ञान और अज्ञान दोनों उसी में विद्यमान है जिस प्रकार साँप में उसकी अपनी शक्ति और विष विद्यमान रहता है परन्तु जैसे साँप पर विष प्रभाव नहीं डालता इसी प्रकार माया अथवा अज्ञान ईश्वर की ही शक्ति होने पर भी उस पर कोई प्रभाव नहीं डालती। जैसे साँप को दूसरों को काटने से उनका विष का प्रभाव होता है। उसी प्रकार जीवों पर माया अज्ञान अथवा अविद्या का प्रभाव होता है। इसलिए अज्ञान के प्रभाव से बचने के लिए उसकी मूल शक्ति पराशक्ति को जानना परम आवश्यक है। उसकी भक्ति से अज्ञान के साथ-साथ तज्जन्य संसार चक्र भी नष्ट हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतः स्वामी विवेकानन्द एवं श्री परमहंस के अनुसार भी अज्ञान ही संसार का कारण है और ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। इस प्रकार लोक में महापुरुषों की बाणी से भी स्पष्ट होता है कि इस जगत् में दुःख, क्लेश अथवा कष्टों का कारण मैं, मेरा का मिथ्याभिमान जो अज्ञान अथवा अविद्या के कारण होता है जबकि लोक और परलोक में समस्त सुख का कारण ज्ञान ही है जिससे एक तरफ तो संसार में रहते हुए भी कम जलकमलबत वह उसके क्रियाकलापों के प्रभाव निरलेप रहता है, दूसरी ओर ईश्वर की प्राप्ति करके परमानन्दित हो जाता है।

तृतीय अध्याय

दार्शनिक चिन्तन में ज्ञान एवं माया का स्थान

ज्ञान और अज्ञान की स्थिति :-

भारतीय दर्शनों में सभी भारतीय दार्शनिक इस बात पर एकम कि अज्ञान/अविद्या ही हमारे सब दुखों की, सब तरह के बन्धनों की है। दार्शनिक चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, यथार्थवादी हों आध्यात्मवादी, अर्थात् ज्ञान का उदय होने पर मोक्ष प्राप्ति मानते हैं। की अवस्था में सभी दुःख तथा बन्धन नष्ट होने तथा जन्म-मृत्यु के से मुक्ति मिलने को मानते हैं। अज्ञान से बन्धन और ज्ञान से मोक्ष हैं। जहाँ अज्ञान से जीव नाना प्रकार के बन्धनों में पड़तें हैं, तो वि हर तरह के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए कहा गया है कि वह है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[1] उपनिषद में वास्तविक वही है, जो मोक्ष दे।

परन्तु समस्या इस बात की है कि इम क्या नहीं जानते? विषय में भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं हैं। अज्ञान को तो सब स्वी करते है, परन्तु उसकी विषय वस्तु के सम्बन्ध में उनमें तीव्र मतभेद अपनी- अपनी दार्शनिक स्थिति के अनुसार कुछ दार्शनिक उसे अ मानते हैं, तो कुछ दार्शनिक उसे सत्य मानते हैं। जहाँ शङ्कर कहते अचल, अमर अनन्त आत्मा को नहीं जानने से जीव को सारे दुःख होते है, वहीं बुद्ध कहते हैं कि इस तरह की जीव की नित्य आत्मा है, ऐसे विश्वास के कारण ही उसे सब प्रकार के दुःख होते हैं।

इस तरह सभी भारतीय दार्शनिकों की अज्ञान के विषय अवधारणा एक जैसी नहीं हैं। सभी भारतीय दार्शनिक इस बात पर सह हैं कि अज्ञान का अस्तिव अनदिकाल से है। अज्ञान अनादि है, पर अनन्त नहीं है। वह सान्त है, उसका नाश हो सकता है।

---

1. सा विद्या या विमुक्तये उप०

1. चार्वाक दर्शन :-

चार्वाक दर्शन की स्थिति मानवमात्र के कल्याण लिए शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पदार्थें को उपादेय बतलाया गया हैं तथा पुरुषमात्र के लिए उपादेय होने के हेतु इन्हें पुरुषार्थ नाम से अभिहित किया गया है। परन्तु चार्वाक दार्शनिक आदिम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। चार्वाक लोग स्वर्ग कों स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि जब्र स्वर्ग नामक सुख प्रधान ही लोक है, तब उसका अपने शरीर को तरह-तरह के क्लेश देकर तप करना तथा द्रव्य का व्यय उठाकर यज्ञानुष्ठान करना एक दम व्यर्थ है। इस प्रसंग में चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है तथा उसकी शिक्षा देने वालों को खरी-खोटी सुनाई है। उनका कहना है कि किसी कपोल कल्पित पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जीव विशेष की हत्याकर योग-साधन करना पहकले दर्जे की मूर्खता है। चार्वाक लोग वेद-विधानों को कपोलकल्पना सिद्ध करने के लिए बड़े-बड़े लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में धर्म और अधर्म में न तो विश्वास करते हैं और न पाप-पुण्य के फल को अंगीकार करते हैं।[1]

जब तक शरीर है, तब जीव नाना प्रकार के संकटों को झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत्त रहता है। अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मरण को अपवर्ग (मोक्ष) मानना युक्तियुक्त है।[2]

चार्वाकों का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीयें सुखपूर्वक जीयें। अपने पास द्रव्य न होने पर ऋण लेकर घृत पीयें आनन्द से मालपूवा खायें। ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता न करें क्योंकि शरीर भस्म हो जाने पर भला जीवन का पुनरागमन कहाँ होता है? अतः खाओ, पीयो, मौज उड़ाओ- यही जीवन का आत्यन्तिक लक्षय है। दुःख से मिश्रित होने से सुख त्याज्य नहीं है।[3] विशुद्ध सुख की सत्ता जगत् में नहीं है; तो क्या मिश्रित सुख की चाह हमें नहीं करनी चाहिए?

---

1. भ॰द॰, ब॰उ॰पृ॰स॰ 85
2. मरणमेवापवर्गः बृ॰सू॰
3. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वाघृतं पिचेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। —भ॰द॰ब॰उ॰, पृ॰ 486

सारांश यही है कि जीवन भोगविलास के सुख की प्राप्ति
व्यतीत करना चाहिए। स्वर्ग–नरक तो इसी जगत् में विद्यमान् है। सुख
प्राप्ति स्वर्ग तथा दुःख का मिलना नरक है। अतः सांसारिक सुख
चार्वाकों के अनुसार प्राणिमात्र का प्रधान लक्ष्य है।[1] दुःख क्लेश, ि
एवं अभाव ग्रस्त जीवन ही बन्धन है। इसलिए सुखमय जीने का प्र
करना चाहिए। मोक्ष नाम की कोई अन्य अवस्था अथवा लोक नहीं
मृत्यु ही मोक्ष है अर्थात् शरीर का छुट जाना ही मोक्ष है। इस प्र
चार्वाक दर्शन अविद्या (बन्धन) और विद्या (मोक्ष) को वर्तमान
एक लोक से ही जोड़ता है। शरीर में रहते हुए कष्ट पाना ही अ
तथा सुखमय जीवन व्यतीत करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

आत्मा :–

चार्वाक न स्वर्ग को मानते हैं, न अपवग्र (मोक्ष) को अ
परलोक में रहने वाली आत्मा। वर्ण आश्रम आदि की क्रियायें भी
देने वाली नहीं। अग्निहोत्र आदि यज्ञ भी आत्मा को शान्ति प्रदान
कर सकते। वेद, तीन दण्ड धारण करना और शरीर में भस्म लगान
सब बातें बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन
यही अज्ञान है। चार्वाक कहते हैं कि यदि ज्योतिष्टोम–यज्ञ में मारा
पशु स्वर्ग जायेग, तो उसके स्थान पर यजमान अपने पिता को ही
नहीं मार डालता। मरे हुए प्राणियों को श्राद्ध से यदि तृप्ति मिले अ
उसकी आत्मा को शक्ति मिले, तो फिर दीपक की शिखा का तो
अवश्य ही बढ़ा देना चाहिए। परन्तु जब वह बुझ जाता है, तो उसमें
होने पर भी नहीं जलता। इसलिए मरने पर आत्मा को कुछ नहीं मि
उनका मत है कि यह शरीर ही सब कुछ है। यह जो दिखाई दे रह
वही सत्य है। पिण्ड और श्राद्ध से किसी की भी आत्मा को शान्ति
मिलती। ये सब बेकार की बातें हैं। यही अविद्या अथवा अज्ञान है।

जगत्ः–

पृथ्वी जल तेज तथा वायु ये ही चार पदार्थ अपनी आ
अवस्था में जगत् के मूल कारण हैं। बाह्य जगत् इन्द्रियां तथा

1. भारतीय दर्शन, पृ० 86

शरीर इन्हीं चार मूल भूतों से उत्पन्न होते हैं।[1] चार्वाकों का कहना है कि जड़ पदार्थ ही संसार का मूलकारण है। पृथ्वी जल, अग्नि और वायु के परमाणु ही संसार का निर्माण करते हैं। बौद्ध लोग यद्यपि चार्वाक की तरह ही आकाश- तत्त्व नहीं मानते, किन्तु वे चार्वाक सम्मत परमाणुओं के अवयव मानते हैं और वे उन अवयवों का प्रवाह संसार का निर्माण करता है। जैन लोग एक प्रकार के परमाणुओं को ही संसार के मूल कारण के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] आकाश भी इन्हें मान्य है। न्यायवैशेषिक दर्शनों में सूर्य की किरणों में उड़ने वाले धूल कणों के अवयवों को परमाणु कहते है। दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों के मिलने से एक त्र्यणुक बनता है। यही सूर्य की किरणों में धूल के रूप में दिखाई पड़ता है। इसी क्रम से संसार का निर्माण होता है। ये परमाणु नित्य हैं। दूसरी ओर मीमांसक और वैयाकरण परमाणुओं को भी अनित्य मानते हुए केवल शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं। यह शब्द ही जगत् का मूल कारण है। सांख्य-योग के मत से यह शब्द भी कार्य है; नित्य नहीं। क्योंकि शब्द का कारण अहंकार है। अहंकार का कारण महत् और महत् का कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार यह प्रकृति भी मूल कारण नहीं हो सकती। यह ब्रह्म का विवर्त है। जिससे प्रकृति सद्वस्तु के रूप में प्रतीत होती है।

आत्मा ही जगत् का मूल कारण है। सांसारिक प्रपंच भी व्यक्ति की अविद्या के कारण तात्कालिक और तद्रूप ही सृष्ट होता है। जीवों को नानात्मक मानने पर प्रपंच का भेद भी होगा। वास्तव में 'जीव होना' ही अविद्या का कारण होता है, वह वस्तुतः तो नहीं। जगत् ब्रह्म के कारण है। जैसे दर्पण में बहिर्भूत पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। वैसे ही ब्रह्म में अन्तर्भूत जगत् का प्रतिबिम्व दिखलाई पड़ता है। परन्तु इन सभी मतों के विपरीत चार्वाकों अनुसार चार भूतों के अतिरिक्त किसी अन्य को जगत् का कारण मानना ही अविद्या है।

---

1. भारतीय दर्शन, पृ॰ 82
2. सर्वदर्शन संग्रह, पृ॰ 32

जीव :-

ईश्वर के समान ही जीव को लेकर भी दार्शनिकों में बड़ा विव
है। चार्वाक शरीर को ही आत्मा कहते हैं। यदि उसमुं चैतन्य है तो क
और भोक्ता भी वही है। चार प्रकार के महाभूतों के मिलने से विश
क्रिया द्वारा चैतन्य उत्पन्न होता है। उसमें चैतन्यांश के द्वारा ज्ञान होता
देहाश तो जड़ के रूप में ही है।[1]

चार्वाक दर्शन का मानना है कि पृथ्वी आदि चारों भूतों
सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरि
आत्मा का धर्म है, पर इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के का
शरीर को ही आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। चैतन्य त
शरीर का सम्बन्ध तीन प्रकार से पृष्ट किया जा सकता है:-

1. नैयायिक पद्धति 2. अनुभव 3. वैद्यकशास्त्र के प्रमाण से।

1. नैयायिक पद्धति से:-

शरीर रहने पर ही चैतन्य का होता है और शरीर के नाश हो ज
पर चैतन्य का भी नाश सिद्ध हो जाता है। अन्नपान के उपयोग से श
में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है तथा उसके न होने से चेतना का ह
हो जाता है। चैतन्य के कारण कार्य करने के लिए शरीर आवश्य
साधन है। अतः चैतन्य शरीर का ही होता है, आत्मा का नहीं।

2. अनुभव से:-

मैं स्थूल हूँ मैं कृश हूँ श्रान्त हूँ मैं प्रसन्न हूँ आदि अनुभवों क
ज्ञान हमें पाद-पद पर प्राप्त होता है। यहाँ पर स्थूलता कृशता, श्रान्ति
तथा प्रसन्नता का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर में निष्पन्न है।

3. वैद्यकशास्त्रः-

चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सत्य प्रतीत होता है
जैसे आयु अर्थात् स्वास्थ्य बढ़ता है। इतना ही नहीं, वर्षा काल में ज
दही में बहुत ही जल्द छोटे-छोटे कीड़े रेंगते हुए दिखाई पड़ते है। इन स
प्रमाणों के आधार पर शरीर में चैतन्य मानना क्या तर्कसंगत नहीं?

1. सर्वदर्शन संग्रह, पृ॰ 32
1. न्या॰मं॰, द्वि॰भा॰, पृ॰ 13 (चौ॰सं॰)

अतः बृहस्पति अत्रसार चैतन्य से विशिष्ट शरीर ही पुरुष है। युक्तियुक्त है। यही है चार्वाकों का सुप्रसिद्ध 'भूतचैतन्यवाद'। चार्वाक लोग लोकसिद्ध अनुभव के आधार पर तर्क देते है, मदिरा के साधक द्रव्यों में मादकशक्ति नाममात्र को नहीं है, पर मदिरा में मादकता का आविर्भाव अनुभवसिद्ध है। इससे पता चलता है कि किन्हीं पदार्थों को एक विशेष प्रकार या मात्रा में सम्मिलित करने से अवस्थाविशेष में नये धर्म का उदय आप से आप हो जाता हैं।[1] भूत की एक विशेष ढङ्ग या परिणाम में समष्टि होने पर चैतन्य की उत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है। जैसे पान, खैर, चूना तथा सुपारी में पृथक्-पृथक् लालिमा दिखाई नहीं पड़ती है परन्तु एक विशिट मात्रा में इनके संगोग होने से पान खाने वाले के मुहँ में ललाई की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव की आधार-शिला पर समझी जा सकती है।[2]

अतः चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश के कारण इस शरीर को ही चार्वाक लोग आत्मा मानते हैं। यही ज्ञान है, इसके विपरीत मानना अज्ञान है।

ईश्वरः-

ईश्वर की सत्ता शब्द प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणों से सिद्ध मानी जाती है। श्रुति एक स्वर से पुकार कर रही है कि ब्रह्म इस संसार के जनन, स्थिति तथा नाश का कारण भूत है पर श्रुति के प्रामाण्य को न मानने से चार्वाक ईश्वर की सत्ता शब्द के आधार पर मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। चार्वाकों का मानना है की संसार में स्वीकृत राजा ही परमेश्वर है।[3] संसार का नियन्ता, उत्पत्ति, पालन और संहार कर्ता पुनर्जन्म का प्रदाता ईश्वर नहीं, क्योंकि उत्पत्ति आदि तो स्वाभाविक है। पुनर्जान्म है ही नहीं देह ही आत्मा है। नैयायिक लोग ईश्वर का सद्भाव अनुमान

---

1. द्रष्टव्य, 'किण्वादिम्यो मा दशक्तिवद् विज्ञानम् (घृ॰सू॰) किण्व' एक प्रकार का बीज है, जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था।
2. जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
   ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥ —स॰सि॰सं॰, 2/7
3. लोकसिद्धो राजा परमेश्वर। मोक्ष सर्वदर्शन संग्रह, पृ॰ 8

के आधार पर मानते हैं। वे लौकिक दृष्टानतों की सहायता से ईश्वर को स्वीकार करते हैं। यदि घड़ा कोई कार्य पदार्थ है, तो उसका कर्ता कुम्भकार अवश्य ही विद्यमान है। यह जगत् भी कार्य है। अतः इसका भी कर्ता कोई अवश्यमेव होगा। चार्वाक अनुमान की भी प्रामणिकता नहीं मानता। अतः उससे मत में शब्द तथा अनुमान के झूठा होने से ईश्वर असिद्ध है। अतः चार्वाक मत में ईश्वर का मानना अज्ञान है और नहीं मानना ही ज्ञान है।

धर्म :-

मानवमात्र का कर्त्तव्य है कि वेदप्रतिपाद्य यज्ञ यागादिकों का अनुष्ठान कर मरने के बाद स्वर्ग का उपभोग करो पर लोक के ही अस्तित्व को मानने वाले चार्वाक लोग स्वर्ग का स्वीकार नहीं करते। जब स्वर्ग नामक सुख प्रधान ही लोक है, तब उसके लिए शरीर को तरह-तरह का क्लेश देलश देकर तपस्या करना तथा द्रव्य का व्यय उठा कर यज्ञानुष्ठान करना एकदम व्यर्थ है।र यावांकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है उसकी शिक्षा देने वालों को बड़ी को कड़ी आलोचना की है। उसकी शिक्षा देने वालें को बड़ी खरी खोटी सुनाई हैं। उसका कहना है कि किसी कपोलकल्पित पारलौकिक सूख की प्राप्ति के लिए जीव विशेष की हत्याकर योग-साधन करना पहले दर्जे की मूर्खता है। अपनी इच्छा पूर्ति के लिए किसी जानकर की बलि देना कहां का धर्म है और यदि में मारा गया पशु वास्तव में स्वर्ग पहुँचाने में समर्थ होता तो यजमान अपने ही पिता को क्यों नहीं मारता कौन कहता है कि श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति होती है? यदि श्राद्ध करने से मरे हुए जन्तुओं की तृप्ति, तो तेल डालने से बुझे हुए दीपक की भी शिखा क्यों नहीं बढ़ती? परन्तु कितना भी तेल क्यों न डाला जाये, उसकी शिखा कभी नहीं बढ़ सकती। अतः धर्म संज्ञक किसी तत्त्व को मानना ही चार्वाक मत में अज्ञान है।

स्वर्ग-नरकः-

चार्वाक दर्शन का मत है कि दान आदि से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। दान देने से स्वर्ग स्थित पुरुषों की तृप्ति कभी सिद्ध हो सकती है

यदि ऐसी बात सम्भव माने तो, महल के ऊपर रहने वाले पुरुष के लिए निचले खण्ड में ही चीज़ें दे दी जातीं। इन उदाहरणों से श्राद्ध की अयुक्तिमता सिद्ध होती है। वे न तो स्वर्ग और नरक में विश्वास करते है और न पाप-पुण्य के फल को अंगीकार करते है। चार्वाकों का मत है कि स्वर्ग और नरक कहीं पर नहीं है। इसी संसार में सब कुछ है। जब तक जीना है तो सुखपूर्वक जीएं अपने पास द्रव्य न होने पर भी ऋण लेकर घृत पीए।[1] अगर शरीर एक बार जल गया, तो फिर उसका पुनर्जान्म किसने देखा, उसको स्वर्ग जाते किसने देखा, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है?[2]

अतः खाओ पीयो, मौज उठाओ यही जीवन कार अत्यान्तिक लक्ष्य है। दुःख से मिश्रित होने से सुख त्याज्य नहीं है? विशुद्ध सुख की सत्ता जगत् में नहीं है तो क्या मिश्रित सुख की चाह हमें नहीं करनी चाहिए? जैसे धान्य को चाहने वाला पुरुष पलाल से युक्त धान्य को ग्रहण कर उपादेश अंश को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से मिश्रित सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति लाभ करता है। यह तो मूर्खता है कि दुःख के भय से सुख का सर्वथा त्याग किया जाये। जगत् में मृग है, तो उनके डर से क्या धान नहीं रोपे जाते? माँगने वाले भिक्षुओं की सत्ता बनी हुई है, तो क्या भोजन बनाने के लिए आग पर हांडी न चढ़ायी जाये।

उनका अभिप्राय यह है कि जीवन भोगविलास के साथ सुख की प्राप्ति में व्यतति करना चाहिए। स्वर्ग नरक तो इसी जगत् में विद्यमान् हैं। सुख की प्राप्ति स्वर्ग है तथा दुःख मिलना नरक है। अतः सांसारिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणिमात्र का प्रधान लक्ष्य है। इसके विपरीत मानना ही अज्ञान कही गई है।

मोक्ष :-

मोक्ष की कल्पना भी चार्वाकों की विलक्षण है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगयतन शरीर है। जब तक शरीर है तब तब जीव नाना

1. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वाधृत पिबेत्।
2. भस्मीभूतस्त देहस्य पुनरागमनं कुतः। —भा॰द॰, पृ॰ 86

प्रकार के संकटों को झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत रहता है।
इस देह के पतन के साथ ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो
है। इस प्रकार मरण को अपवर्ग मानना युक्ति युक्त है।

मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप में विद्यमान् रहता है।
चार्वाक मत में इसकी उत्पत्ति नहीं होतीः देह ही आत्मा ठहरा।
देह-पात हो जाने पर अभिमत आत्मा के अभाव में कौन अपने
में विद्यमान् रहेगा? मरण के साथ-साथ आत्मा भी जब नष्ट हो गया
स्वरूप में स्थिति किस पदार्थ की मानी जाये? अतः देहपात के
किसी स्थायी नित्य पदार्थ को न मानने के कारण ही चार्वाकों की
सर्वथा असत्य है। परन्तु चार्वाकों के अनुसार शरीर त्याग (मृत्यु
अतिरिक्त कोई अपवर्ग मानना अज्ञान है।

2. बौद्धः-

बौद्ध दर्शन के अनुसार भी अज्ञान ही सब दुःखों की जड़ है।
लोक या परलोक में जितने भी दुःख हैं, सब अज्ञानमूक हैं।

बुद्ध जगत् की हर घटना को कार्यकारण की श्रृंखला में
मानते हैं। संसार में अकारण कुछ नहीं होता। हर घटना का कुछ परि
निकलता है। उसका पुनः कुछ परिणाम निकलता है, तो गत
कारण कहलाती है। इस तरह पुनः रूप से न कोई घटना कारण है
कोई घटना परिणाम। कारण-परिणाम का चक्र विश्व में चलता ही
है। इसी को कुछ भवचक्र कहते हैं।

दुःख जो सबके सामने सबसे बड़ी समस्या है, क्यों आता है?
कहते हैं- जरा मरण के कारण, जरा मरण जाति के कारण, जाति
के कारण, भव उपादान के कारण उपादान तृष्णा के कारण, तृष्णा वे
के कारण, वेदना स्पर्श के कारण, स्पर्श षडायतन के कारण, षडाय
नामरूप के कारण, नामरूप विज्ञान के कारण, विज्ञान संस्कारों के का
और संस्कार अज्ञान के कारण निंमत होते हैं। अज्ञान से लेकर दुःख त
जो बारह कड़ियाँ हैं, इन कार्य-कारण श्रृंखलाओं को ही
प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। यह अज्ञान अनादि है, और जब ज्ञान से न
होती है, तब निर्वाण प्राप्त होता है। निर्वाण परमसुख की अवस्था

र्वाण प्राप्ति के लिए बुद्ध ने अष्टाङ्ग मार्ग बताया है। उसकी प्रथम कड़ी म्यक् दृष्टि ही है। हमारी दृष्टि अज्ञान पर नहीं बल्कि वास्तविकता पर ाधारित होनी चाहिए। जैसी हमारी दृष्टि होगी, वैसा ही हमें ज्ञान होगा। न दोनों के अनुरूप ही हमारे संकल्प, वाणी तथा कर्म होने चाहिए। पनी आजीविका, अपनी पढ़ाई-लिखाई मित्र आदि भी उचित होने ाहिए, तभी हमें समाधि अर्थात् निर्वाण प्राप्त होगा। पुनः अज्ञान ही ासारिकता की जड़ है। अज्ञान के कारण ही तृष्णा, वासना आदि का र्माण होता है। इस अज्ञान को दूर करना चाहिए। अर्थ है- संसार के ःखों में पड़ा रहना, जरा-मरण, आवगमन आदि अज्ञान अथवा दुःख ही ।' इससे बचना ही ज्ञान (मुक्ति) हैं उनका कहना है कि जन्म लेना भी, ज्ञान अथवा दुःख है, बृद्धावस्था भी अज्ञान है मरण भी अज्ञान है शौक रिदेवना (पञ्चात्ताप) उदासीनता तथा परिश्रम भी अज्ञान है। अप्रिय स्तु के साथ समागम होना भी अज्ञान है, प्रिय का वियोग भी अज्ञान हैं।

बुद्ध आध्यात्मिक परिष्कार का माध्यम आचार को मानते थे। सलिए समस्त बौद्ध दर्शन आचार परिपूर्ण है। सत्य अहिंसा आदि सिद्धान्त भी आचार के अन्तर्गत की जिज्ञासा करते है तो बुद्ध कहते है कि ाध्यात्मिक ज्ञान (ज्ञान) भाषण से नहीं, अपितु आचार व्यवहार से प्राप्त ता है। निदर्शनार्थ श्रावस्ती के जैतवन में मालुक्यपुत के द्वारा जब संसार ी नश्वरता एवं अनन्तता, तथा जीव कि अनेकता आदि के विषय में स मेण्डक प्रश्न बुद्ध के समक्ष रखे गये, तो वह मौन हो गए। उन्होंने इन श्नों को अकथनीय कहा। उनका तात्पर्य था कि ये प्रश्न दुःखनिवृत्ति के ाधन नही बन सकते। दुःखनिवृत्ति तो आचार-व्यवहार से ही सम्भव है।

(क) सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थकरसम्मतम्।
अन्यथा तन्निविवृत्सूनां तेषां तन्निवृव्युपाये प्रवृत्यनुपपत्तेः।
तस्मात्सर्वं दुःखं दुःखमिति भावनीयम्।

(ख) इदं खो पन भिक्खवे, दुःखं अरिय सच्च।
जाति पि दुःख, जरापि दुःखा, मरणम्पि दुःख,
शोक परिदेवदोमनस्सुपायांसापि दुःखा, अरिपयेहि सम्पयोगो दुखो,
पियेहि विष्पयोगो दुःखो यम्पिच्छँ, न लभति तम्पि दुखँ,
सख्यित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा। —स॰द॰सं॰बौ॰द॰, पृ॰ 61

इसलिए बुद्ध ने आचार परिष्कार के लिए निम्नलिखित चार सत्
स्थापना की थी। मनुष्य जीवन के कल्याण की दृष्टि से बुद्ध ने जी
चार श्रेष्ट सत्यों का निर्देश किया है, जिन्हें आर्यसत्य कहते हैं,
मानना है कि अज्ञान ही दुःख हैं।

1. प्रथम आर्यसत्य दुःखसत्य है। इसकी व्याख्या करते हुए
कहा है– जन्म मृत्यु वृद्धावस्था एवं शोकरुदन आदि दुः
संक्षेप में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान, ये पाँचों
स्कन्ध दुःख है।[1]
2. द्वितीय आर्यसत्य दुःख हेतु है। अज्ञान अथवा दुःख
तृष्णाकाम अर्थात् भोग की तृष्णा, भव अर्थात् सांसारिक
एवं विभव की तृष्णा है। बुद्ध कहते है, कि काम अर्थात्
भोगों की प्राप्ति के लिए लोग, परस्पर कलह करते है,
भी दे देते है।[2]
3. तृतीय आर्यसत्य दुःखविनाश है। तृष्णा के आन्तरिक
परित्याग एवं विनाश को दुःख निरोध कहते हैं। तृष्णा क
होने पर ही तृष्णा का निरोध होता है। जन्म के निरोध क
तृष्णा का त्याग होने पर तृष्णा का निरोध होता है। ज
निरोध से समस्त दुःखों का निवेध होता है।
4. चतुर्थ आर्यसत्य, दुःखविनाश का मार्ग है। बुद्धोपदेश के
दुःख विनाश की ओर ले जाने वाला अष्टांगिक मार्ग कहल
इससे ही दुःखों कि समाप्ति होकर निर्वाण प्राप्त किया जा
है। बौद्धदर्शन में समस्त क्लेशों का कारण अज्ञान को
गया है। अज्ञान ही जन्म, मृत्यु भाव एवं उपादान
मूलकारण है। बौद्धों का मानना है कि यह संसार ही दुखों
हैं एवं अज्ञान है।[3] अतः दुख का कारण ही अज्ञान है।

---

1. महासत्तिसुत्त (दीर्घनिकाय, 219)
2. मज्झिमनिकाय, 1/2/31
3. तदिदं सर्व दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा
तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं संपादयेत। —स॰द॰स॰, पृ॰ 88

बौद्धों का मानना है कि बारह आयतनों की पूजा ही मोक्ष अथवा ज्ञान को प्राप्त करने वाली है यह उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। उनका मानना है कि बहूत सा धन उपार्जत करके द्वादश आयतनों की पूजा करनी चाहिए। यहाँ दूसरी पूजाओं से कोई लाभ नहीं है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चर्म, नेत्र, कर्ण, रसना, और नासिका) पाँच कर्मोन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुँह, जननेन्द्रियाँ तथा गुदा) मन और बुद्धि- ये ही द्वादश आयतन है।[1]

बौद्धों की भावना है कि सर्व दुःखं दुःखम्। अर्थात् दुख का कारण ही अज्ञान है यह संसार में जो भी दिखाई दे रहा है यह सब दुःख अथवा अज्ञान ही है। दुःख की सत्ता मानने में सभी दर्शन-शास्त्र सहमत है वस्तुतः भारतीय दर्शन का प्रमुख अंश मोक्ष एवं ज्ञान और अज्ञान का अर्थ बन्धन का ही विवेचन करता है। बन्धन का अर्थ है कि संसार के दुःखों में पड़ा रहना। जरा-मरण, आवागमन आदि दुःख ही तो हैं। इन सभी दुःखों के विपरीत जो ज्ञान है वह ही मुक्ति है।

बौद्धदर्शन में ज्ञान (विद्या) के चार कारणः-

1. आलम्बन, 2 समनन्तर, 3 सहकारी और अधिपति।[2] उनमें ज्ञान (विद्या) शब्द से समझे जानेवाले नीलादि की प्रतीति का, जिसे चित्त भी कहते है, नील (पदार्थ) से आलम्बन के कारण ही नील-रूप बनता है।

समन्तर :-

समन्तर के कारण ही पूर्वक्षण के ज्ञान से आकार ग्रहण की शक्ति आती है।

---

1. द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम-
अर्थानुपार्ज्यं वहुशो द्वादशायतनानि वै।
पारितः पूजनीयानि किमन्वैरिह पूजितैः॥
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥ —प॰द॰सं॰का॰ 28, 29, अ॰ 2, पृ॰ 101
2. ते चत्वारः प्रसिद्धा आलम्बन-समनन्तर सहकार्याधिपतयः तत्रज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासास्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता भवति।
—सां॰द॰स॰बौ॰द॰, पृ॰ 85

तृतीय अध्याय

सहकारी :-

सहन्तर के कारण ही प्रकाश से स्पष्टता होती है।

अधिपतिः-

अधिपति के कारण आँखादि द्वारा विषय के ग्रहण का नि होता है। तात्पर्य यह है कि चित्त को ही ज्ञान कहते है और बोध का अर्थ है उसके स्वरूप को ग्रहण करने की शक्ति। जिस पूर्वक्षण के घट से उसी के आकार में उत्तर-क्षण में घट उत्पन्न हो उसी तरह पूर्वक्षण में वर्तमान आकार को ग्रहण करने में समर्थ अथवा ज्ञान से उत्तर-क्षणर में तदाकार ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञ तरह यह परम्परा बराबर चलती रहती है। आकार भी दो तरह अहम् का आकार, इदम् का आकार। अहमाकार पूर्वक्षण के उत्पन्न होता है, दूसरे कारण की अपेक्षा इसमें नहीं है। यह अनादि समय रहता है और एक रूपवाला है। ज्ञान में अपने आकार के आकार डालने वाला शब्दादि अनेक प्रकार के विषय अपने आकार के प्रवृत्ति विज्ञान को उत्पन्न करते है। कामना एवं भावन का मूल कारण है। अतएव तृष्णालु व्यक्ति प्रिय वस्तुओं से वियोग नहीं चाहता, इसके अतिरिक्त यद्यपि नाम-रूप का उपनिषदों से ही आरम्भ हो जाता है।

बौद्धों के अनुसार अनित्य दुःख और अनात्मन भूत ज आत्मा को खोजना ही अज्ञान है। सत्व या प्राणी यही सेचता है कि में सुखी आत्मा है वस्तुतः वह अन्ततोगत्वा दुःख ही निकलता प्रवृति का नाम ही अज्ञान है। निर्वाण निर उपसर्ग पूर्वक वन य शब्द से निष्पन्न होता है बौद्ध धर्म में वन शब्द का अत्यधिक मह वन का अर्थ तृष्णा किया गया है और निर्वाण का अर्थ तृष्णा से होना अथवा तृष्णा का निरोधक्षय विराग ही है निर्वाण जीवन रूपी का बुझना है यह क्रम जारी रहता है। उसकी समाप्ति ज्ञान अथवा से होती है। विद्या चार आर्य सत्यों का साज्ञात करना है और इसके अष्टाङ्ग आर्य मार्ग पर चलना आवश्यक है। भिक्षुओं को स करते हुए बुद्ध ने कहा था कि वहाँ पृथ्वी जल अग्नि वायु तेज़ आकाश

न वहां अनन्त चेतन्य है, न शून्य है न प्रत्यक्षप्रत्यक्ष लोक, उस निर्वाण अवस्था में आवागमन, स्थिरता, चपलता नहीं है। वहीं दुःख का अन्त है। अर्थात् वहीं पर ज्ञान का निवास है।

जैनदर्शनः-

जैनदर्शन का मानना है कि जीव के बन्धन का कारण कर्म है, जीव में, कर्म-पुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जो 'भावस्त्रव' उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप जीव में भावबन्ध का भाव उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् उपर्युक्त प्रक्रिया से 'कर्म पुद्गलो' के जीव में प्रवेश करने पर द्रव्यबन्ध कहते है। इस प्रकार 'आस्त्रव' ही बन्धन का कारण है, क्योंकि इसके द्वारा जीव का वास्तीवक चैतन्य एवं ज्ञानस्वरूप तिरोहित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अविरति, मिथ्यात्व एवं प्रमाद भी बन्धन अथवा (अज्ञान) के कारण है।

'आस्त्रव' बन्धन का कारण है तथा 'संवर' एवं 'निंर्जरा के द्वारा 'आस्त्रव' का नाश होने पर जीव को प्राप्ति हेती है। मुक्तास्था में जीव कर्मपुद्गलों से मुक्त होने के कारण, सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करता है। यह अवस्था जीव की भावमोक्ष अथवा 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था है। इस अवस्था में जीव के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एकं अनन्तराय, इन चार घातक कर्मों का नाश हो जाता है। जैन दर्शने के अनुसार उक्त अवस्था वास्तविक, मोक्ष से पूर्व की अवस्था है। इसके पश्चात् जब आयु नाम, गोत्र तथा वेदनीय इन चार अघातीय कर्मों का भी उच्छेद हो जाता है, तो जीव को द्रव्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैनदर्शन में अविद्या के लिए साधारणतया मिथ्यात्व का प्रयोग होता है। मिथ्यादर्शन, में अज्ञान के लिए साधारणतया मिथ्यात्व का प्रयोग होता है। मिथ्यादर्शन मिथ्यादृष्टि, दर्शन मोह या मोह शब्द भी अज्ञान का ही घोतक है मिथ्यादत्व को विरोध सम्यकत्व है, जिसे सम्यक् दर्शन भी कहते है। मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव धर्म स्थान पर अधर्म का सन्मार्ग के स्थान पर कुमार्ग का साधु के स्थाव पर असाधु का और मूर्त्त के स्थान पर अमूर्त्त का ग्रहण करता है।[1] मोहयुक्त जीव के तीन अनादि स्वरूप है मिथ्यात्व,

1. स्थानाङ्ग सूत्र, 10/1/734

अज्ञान (अविद्या) और अविरति।[1] किन्तु केवल मिथ्यात्व के कारण भव- बन्ध (अज्ञान) नहीं होता, अपितु आत्मा के विभिन्न गुणों आवृत्त होता है।[2]

षड़दर्शनों में सर्वप्रथम "योगसूत्र" पतञ्जलि ने अज्ञान को "क्ले बताया है तथा अन्य सभी क्लेशों की जननी भी अज्ञान को ही बता है।[3]:- अनित्य, दुःखात्मक और अशुचि पदार्थों में नित्य, शुचि सुखात्मरूप विपरीत ज्ञान ही अज्ञान है।[4]

भाष्यकार व्यास के विचार से भी अज्ञान न प्रमाण है प्रमाणाभाव (ज्ञानभाव) किन्तु ज्ञानं से विपरीत ज्ञान अज्ञान है।[5]

जैनदर्शन जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध तथा विच्छेद दिख के लिये सप्त पदार्थों का वर्णन करता है। ये पदार्थ हैं:-

1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्त्रव, 4. बन्ध, 5. संवर, 6. निर्जरा मोक्ष

जैनदर्शन में द्रव्य भी स्वीकार किया गया है। वेदान्त दर्शन तरह, जैनदर्शन में भी जीव आत्मा एवं चेतन स्वरूप है इसके साथ जीव प्राणी भी कहा जाता है। जीव में विशुद्ध ज्ञान (अज्ञान) स्थित किन्तु कर्म के प्रभाव के कारण दशा में जीव का स्वाभाविक एवं वि ज्ञान (अज्ञान) आच्छादित रहता है संसारी जीव (औपशमिक) ज्ञा ज्ञायोपशमिक औदयिक तथा परिणामिक से मुक्त होता है, तथा इन्हीं कारण जीव का विशुद्ध रूप आवृत हो जाता है। जब व्यक्ति सम्यग्ज्ञान हो जाता है, तो वह अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है

1. उवओणस्य अंणाई परिणामा तिण्वी मोहजुत्तस्मिच्छतं।
अण्जातं अविरादि भावो च णादण्वो (कुम्दकुन्दाचार्य, समचसार, पृ॰ 96)
2. Bondage in the ultimate analysis consists in the abstucted and multiated conditi the various capacies of the soul. (Tatia, Nathmal, Studies in Jain Philosophy P.
3. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।
अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छन्नोदाराणाम्॥ —यो॰सू॰ 2/3/4
4. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। यो॰सू॰ 2, 5
5. अविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति।
—यो॰सू॰व्या॰भा॰

जीव अमूर्त्त तथा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वसम्पन्न है जैन दर्शन के नुसार जीव अपने स्थूल शरीर के आकार वाला है। उदाहरणार्थ हाथी के रीर में स्थित जीव हाथी के शरीर वाला है, एवं चींटी के शरीर में स्थित ीव चींटी के आकार का है। अतएव जैनदर्शन का जीव संकोच एव वेकास की क्रिया से युक्त है। अरूप होने के कारण जीव की अदृश्यता । अज्ञान के कारण, कर्म जीव में प्रवेश करता है, तथा इसी कर्म के ारण जीव का बन्धन होता है।

अजीव तत्त्व के पाँच भेद है धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा ाल। प्रथम चार अजीव तत्त्वों में अनेक प्रदेश होते है, अतः इन्हे अस्तिकाय' कहते है। पाँचवे अजीव तत्त्व काल में क्योंकि एक ही प्रदेश , अतः वह "अस्तिकाय" नहीं है।

धर्म तथा अधर्म द्रव्यों की जैन कल्पना अन्य दर्शनों में स्वीकृत ल्पना से नितान्त भिन्न ठहरती है गतिशील जीव तथा पुद्गल के हकारी कारण द्रव्यविशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है। जल में चलने ाली मछली के लिए जिस प्रकार जल सहकारी कारण माना जाता है, सी प्रकार जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की गति के लिए धर्मस्तिकाय की ल्पना की गई है। जल से मछली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर कता, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र देने का कार्य करता है।

अधर्म की कल्पना धर्म के ठीक विरुद्ध है स्थितिशील जीव तथा ुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को 'अधर्म' की संज्ञा ैन दर्शन में दी गई है।

जैसे श्रान्त 'यात्री' के ठहरने के लिए वृक्षों की छाया सहायक होती । उसी प्रकार जीव की स्थिति के लिए अधर्मस्थिकाय की कल्पना ्वीकृत की गई है

छाया पथिक के रुकने के लिए कारण नहीं हो सकती, न उसे कने के लिए प्रेरणा कर सकती है, जीव तथा पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म की कल्पना भी प्रकार मानी गई।

जैनदर्शन के अनुसार जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने ाला पदार्थ है। आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न

होकर अनुमान के आधार पर अदीकृत की जाती है। जीव पुद्गल तथा अधर्म पदार्थ बाहुप्रदेशव्यापी है। आकाश दो प्रकार का माना है:-

जीव पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति जिस भाग में होती है "लोकाकाश" की संज्ञा दी जाती है तथा लोक से उपरितन आकाश अलोकाकाश संज्ञा है।

जैनदर्शन में पुद्गल शब्द का अर्थ कुछ विलक्षण माना जाता यह भूत सामान्य के लिए व्यवहृत किया जाता है। "पुद्गलास्तिकाय" संज्ञा जैनशास्त्र में ही प्रसिद्ध है। अन्य दर्शनों में पुद्गल स्थानीय तत्त्व प्रधान, प्रकृति परमाणु आदि शब्दों से पुकारते है। सर्वदर्शन-सं पुद्गल शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है जो पूर्ण हो जाये तथा गल अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचयरूप से शरीर का नि करने वाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होने पर जो छिन्न-भि जाते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं:- अणु तथा संघात।[2]

जैनदर्शन के अन्तर्गत "काल" की कल्पना विलक्षण, वैज्ञानिक है। जाती है। संसार के सारे पदार्थ परिणामशील इस साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी जाती है। 1. 2.परिणाम 3.क्रिया 4.परत्व 5. अमरत्व ये पाचो काल के उपका जाते है। काल के बिना पदार्थों की कल्पना नहीं की जा सकती है। वस्तु का परिणाम की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम क जाना कालजन्य ही है। ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना भी का सिद्धि को प्रमाण भूत बतला रही है। काल का विस्तार नहीं माना अतः वह अस्तिकाय द्रव्यों से इस विषय में भिन्न ही है।

भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के जीव के सम्बन्ध का प्रधान कारण कर्म ही है। उसी के साथ सम्बन्ध होने से जी बन्धन होता है तथा उसके प्रभाव के हीन होने पर जीव का मोक्ष हो

1. पूरयन्ति गलन्ति च। —स०द०सं०, पृ० 153, त०सू० 5/26
   (क) भारतीय दर्शन, ब०उ०पृ० 110

2. ते च द्विविधाः अणवः स्कन्धाश्च। —स०द०सं०, पृ० 153

अपने व्यापार के लिये अपरतन्त्र कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध होना 'आस्रव' कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में शरीर वचन तथा मन की क्रिया को रोग का नाम दिया गया है।[1] यह योग हो 'आस्रव' कहलाता है। जिस प्रकार जलाशय में जल के प्रवेश कराने वाले नाले का मुखर आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार जीव के कर्म में प्रवेश कराने का मार्ग होने के कारण योग को 'आस्रव' की संज्ञा दी गई है। चरम तत्त्वों के अज्ञात तथा वासनादि के कारण कर्मों का जीव के प्रति जो संयुक्त होने की क्रिया होती है, उसे जैनदर्शन 'आस्रव' कहता है। आस्रव दो प्रकार का होता है– भावास्रव (कर्मोत्पादक रागादिभाव) तथा द्रव्यास्रव पुद्गलकर्मों का आना।[2] उसके अनन्तर कर्मों के द्वारा जीवों को साक्षात् वयाप्त करना बन्ध कहलाता है। दूसरे शब्दों में जीव जब कषाययुक्त होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तो उसे 'बन्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती है।[3] उमास्वामी बन्धन के पाँच कारण मानते हैं:-

1. मिथ्यात्व (अतत्त्व में तात्त्विक दृष्टि रखना)
2. अविरति (दोषों से विरत न होकर सदा उनमें लगे रहना)
3. प्रमाद (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य कार्यों में अविवेक के कारण सावधान न होना)
4. कषाय (समभाव की मर्यादा का तोड़ना)
5. योग (मानसिक, कायिक तथा वाचक प्रवृत्ति)

इन्हीं कारणों से जीव कर्म के द्वारा बन्धन को प्राप्त करता है। इन कर्मों का सम्बन्ध– विच्छेद भी दो भिन्न– भिन्न क्रमों से निष्फल हो सकता है। आगे आने वाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा बन्द कर देने को 'संवर' कहते हैं।[4] यह 'आस्रव' से विपरीत क्रिया है। संवर का ग्रहण करना अग्रिम कर्मों के मार्ग को निरुद्ध कर जीव को अत्यधिक बन्धन में पड़ने से बचाता है तथा उसे मुक्ति की ओर उन्मुख करता है। संवर दो प्रकार

---

1. त॰सू॰, 3/1/2
2. द्र॰सं॰ण॰, 30 स॰र्द॰सं॰
3. त॰सू॰, 8/1
4. त॰सू॰, 9/1

होता है- भावसंवर तथा द्रव्यसंवर। 'भावसंवर' मुमुक्षु के उन मानसिक उद्योगों का नैतिक प्रयत्नों के लिऐ प्रयुक्त होता है, जिनके द्वारा वह कर्म के मार्ग का निरोध की संज्ञा है। द्रव्यसंवर नवीन पुद्‌लकर्म के सम्बन्ध के वास्तविक निरोध की संज्ञा है। वास्तव में क्रिया के पहले ही मानस व्यापार का होना अनिवार्य है। अतः संवर दो प्रकार का माना जाता है। इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी निर्जरा की होती है, जिनके द्वारा सम्पादित कार्यों को निर्वीय बनाकर फलाभाव के लिये उन्हें जीर्ण कर देता है। फलस्वरूप वही मोक्ष कहलाता है। इसकी स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना सम्भव नहीं हो सकती, इसलिये उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया है।[1] मोक्ष प्राप्त करते ही जीव अपने नैर्सगक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसमें इन 'अनन्त-चतुष्टयों' की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है- अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शानित। कैवल्य प्राप्त कर लेने पर जीव इस भुतल पर निवास करता हुआ समाज का परम मङ्गल सम्पादन करने में लगा रहता है। वह अपने आदर्श चरित्र से मनुष्यमात्र के हृदय में दुःखनिवृत्ति के लिये आशा का सञ्चार रहता है। सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिये मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास एकदम नहीं हो सकता, प्रत्युत उसे इस मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्षमार्ग के इन सोपानों को जैनदर्शन में 'गुणस्थान' कहते हैं। प्रत्येक धर्म इस कल्पना की युक्तिमत्ता स्वीकार करता है। जैनदर्शन के अनसार गुणस्थानों की संख्या 14 है, जिसमें मिथ्यातत्व से लेकर क्रमशः सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुंचना लक्ष्य है। गुणस्थान की कल्पना मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है। गुण स्थानों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:-

1. मिथ्यातत्त्व (विवेक- हीनता की दशा)
2. ग्रन्थिभेद (सत्-असत् के विवेक का उदय)
3. मिश्र (निश्चय और अनिश्चय की मिश्रित दशा)
4. अविरत सम्यग्-दृष्टि (संशय के नाश होने पर सम्यक् श्रद्धा की अवस्था)

1. बन्धहेत्वभावनिर्जरायाम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। -त॰सू॰ 10/4-3

5. देशविरति (पापों का आंशिक त्याग)
6. प्रमत्त
7. अप्रमत्त
8. अपूर्व करण
9. अनिवृत्ति करण
10. सूक्ष्म साम्पराय
11. उपशान्त मोह
12. क्षीण मोह (मोक्ष की आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों के नाश से उत्पन्न दशायें)
13. संयोग- केवल (इस गुणस्थान में साधक अनन्त ज्ञान तथा अनन्त सुख से देदीप्यमान होता है। वह तीर्थङ्कर कहलाता है आर उसमें उपदेश देने की तथा धार्मक सम्प्रदास के स्थापन की योग्यता हो जाती है, इस दशा में शुक्ल ध्यान की सहायता से जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है[1]
14. **आयोग केवल :-** यही अन्तिम दशा है। इस अवस्था के उत्पन्न होते ही साधक ऊपर उठने लगता है। लोकाकाश और अलोकाकाश के मध्य में एक नितान्त पवित्र स्थान है, यही इन सिद्धों की निवासभूमि है। इस स्थान 'सिद्धशिला' कहते हैं। साधक अनन्त-चतुष्ट्य को प्राप्त कर चरम शान्ति का अनुभव करता है। साधकों के लिऐ यही चरम मुक्तावस्था है।[1]

3. न्याय तथा वैशेषिक दर्शन :-

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन आत्मा को स्वतन्त्रं मानते हैं, लेकिन उसकी स्वतन्त्रता को सापेक्ष बताते हैं। आत्मा कुछ करने, न करने के लिए मुक्त है, उस पर किसी का बन्धन नहीं है। फिर भी आत्मा की स्वतन्त्रता असीम नहीं है, बल्कि असीम है। आत्मा स्वतन्त्रता के साथ अपने प्रयोजनों की पूत के लिए प्रयत्न कर सकता है। लोकिन उसके प्रयत्नों को सफल बनाना ईश्वर के हाथ में है। अगर ईश्वर चाहे तो आत्मा के प्रयत्नों को निष्फल कर सकता। आत्मा के प्रयत्नों का सफल होना ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर है।[2]

---

1. भा॰द॰, पृ॰ 12-16
2. न्या॰भा॰, 4, 1, 19-21

आत्मा का यथार्थ ज्ञान मोक्ष–प्राप्ति का साधन है। इससे अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान के नाश से दोषों का क्षय होता है। दोषों के क्षय से कर्मां का क्षय होता है। पुनर्जन्म के होने से दुःखों का नाश हो जाता है। दुःख के आत्यन्तिक विनाश का नाम ही मोक्ष है।[1]

शरीर को आत्मा समझना ही मिथ्याज्ञान है और यही अहँकार है। आत्मा के तत्त्वज्ञान से अहंकार का नाश हो जाता है। इससे मोह का और मोह से पैदा होने वाले राग का और द्वेष का नाश हो जाता है। शास्त्रों को सुन्ने (श्रवण), उनके अर्थ पर विचार करने (मनन) और विचार के द्वारा संप्रतिपत्ति का लाभ करने (निदिध्यासन) से आत्मा के प्रकृत स्वरूप का ज्ञान होता है। योगाभ्यास से भी तत्त्वज्ञान होता है। जब योगभ्यास से अर्जत धर्म प्रकर्ष प्राप्त कर लेता है तब समाधि की अवस्था में तत्त्व का ज्ञान पैदा होता है। यम, नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि, ये के आठ अंग हैं जिनकी सहायता से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।[2]

मोक्ष को अपवर्ग भी कहते हैं। गौतम ने अपवर्ग को दुःख की आत्यन्तिक हानि है।[3] प्रलय की अवस्था में आत्मा दुःखों से मुक्त हो जाता है। लेकिन यह दुःखहानि आत्यन्तिक नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्म के शेष रहने से सृष्टि के समय आम्मा पुनः अपने पुण्य–पाप के अनुसार देह धारण करता है। अपवर्ग तो दुःख से हमेशा के लिए मुक्त हो जाने का नाम है। इसे सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक का मत एक है। मोक्ष तक होता है जब इच्छा, द्वेषी प्रयन्त, सुख, दुःख ज्ञान, धर्म अधर्म और संस्कार, जो कि आत्मा के विशेष गुण हैं, पूरी तरह से नष्ट हो जाते हैं। धर्म और अधर्म सुख–दुःख के कारण हैं। ये आत्मा को संसार के बन्धन में डालते हैं। जब इनका उच्छेद हो जाता है तब आत्मा शरीर को धारण नहीं करता और सुख–दुःख का भोग रुक जाता है। इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी शरीर के सम्पर्क से ही होते हैं। शरीर के उच्छेद से इनका

1. न्या॰भा॰, 4, 12, 4.1, 6, 1.1.2, 4.2.1
2. न्या॰सू॰ 4.2, 42, 4.2, 43, न्या॰सू॰, 4.2.2, न्यायर्वातक, 1.1, 21
3. न्या॰सू॰, 1.1, 22

भी उच्छेद हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मज्ञान से भी रहित हो जाता है। ज्ञान अर्थों का होता है और उसका होना ज्ञानेन्द्रियों का अर्थों से, मनस् का ज्ञानेनिद्रयों से और आत्मा का मनस् से सन्निकर्ष होने पर निर्भर होता है। लेकिन चूँकि मोक्ष में ज्ञानेन्द्रियाँ, मनस् और शरीर नष्ट हो जाते हैं, इसलिए ज्ञान पैदा नहीं हो सकता। यथार्थतः इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि आत्मा के आगुन्तक गुण हैं। केवल विभुत्व ही उसका स्वरूप गुण है। मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें आत्मा स्वरूप-मात्र से अवस्थित रहता है।[1] इसमें आत्मा का दुःख से आत्यन्ति वियोग हो जाता है। उसमें आनन्द का अनुभव नहीं है। आनन्द या सुख सदैव दुःख से मिश्रित्र रहता है। विशुद्ध सुख सम्भव नहीं है। आनन्द लौकिक सुख से भिन्न वस्तु नहीं है और सुख हमेशा आत्मा का शरीर से संयोग होने पर ही होता है। शरीर नष्ट हो गया तब सुख कहाँ? इसलिए मोक्ष में सुख और अन्य सांसारिक अनुभवों की अत्यन्त हानि हो जाती है। उसमें आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है।

4. सांख्य दर्शन :–

'सांख्य दर्शन' में पुरुष तत्त्वतः अक्षर, निर्लेप और मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संसर्ग हो जाता है। इस सयोग से प्रकृतिजन्य दुःखादि का जो उसमें तादात्म्य के कारण अहंत्व- ममत्व होता है, वही पुरुष के लिए बन्धन की दशा है।[2] अतः संसार का मुख्य कारण अविवेक है और विवेक ही मोक्ष है, जिसे सांख्य में कैवल्य कहा जाता है। अतः वास्तव में कोई भी जीव बन्धन में नहीं पड़ता है और न ही मुक्त होता है न ही इसका संसरण ही होता है। केवल प्रकृति ही संसरण करती है। नाना प्रकार के परिणामों में प्रकट होती हुई प्रकृति ही बन्धन में पड़ती है और उसी का बन्धन से छुटकारा होता है। अतः विवेक ही मुक्ति तथा विवेक बन्धन है। विवेक तथा अविवेक बुद्धि के ही परिणाम, स्वभाव, हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष तो बुद्धि के भीतर

---

1. न्यायमञ्जरी, पृ॰ 507–08, 511–12
2. तत्र जन्ममरणकृतं दुखं प्राप्नोति चेतनः पुरुष।
   लिंगस्याऽऽविनिवृत्तेस्माद् दुखं स्वभावेन॥ –तदेव 55

प्रतिबिम्बत होता हुआ उसके स्वभावों को मानो अपने स्वभाव समझता हुआ ऐसे ही उनमें उलझा रहता है अतः बुद्धि के ससर्ग से एवं उसमें प्रतिबिम्बित होते ही बुद्धि के द्वारा वह अपने को बुद्धि बन्धन से बद्ध समझता है। बुद्धि को ही विवेकख्याति से वह अपने को मुक्त समझता है।[1] ऐसा समझना भी बुद्धि का ही स्वभाव है अविवेक एवं उसके संस्कारवश ही पुरुष बद्ध होता है। इस प्रकार बुद्धि के ही सुख–दुःखादि की तरह विवेक–अविवेक, बन्धन–मोक्ष केवल उसी के ही धर्म होते हैं। अतः बुद्धि ही धर्म अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य और अज्ञान के द्वारा अपने को बन्धन में डाल लेती है और वही अपने आपको ज्ञान के द्वारा मुक्त कर लेती है।[2] बन्धन और मुक्ति के पीछे बुद्धि का एकमात्र लक्ष्य (व्यापार) पुरुषार्थ ही होता है अर्थात् अधर्मादि सात धर्मों के द्वारा अपने आपको बन्धन में डाल देने और आठवें ज्ञान कें द्वारा अपको मुक्त कर देने में बुद्धि को केवल यह प्रयोजन होता है कि पुरुष का सम्बन्ध प्रकृति से टूट जाये और वह अपने स्वाभाविक तादस्थ्य भाव से ही पुनः ठहर जाये।[3]

यह पुरुषार्थ सिद्ध होने पर प्रकृति को सदा के लिये के लिये छोड़ जाती है और अपने कैवल्यभाव में पुनः अवस्थित हो जाता है।[4] प्रकृति और पुरुष की पृथक्ता का ज्ञान ही विवेकख्याति कहा जाता है उसके होने पर धर्म, ज्ञान, वैराग्य औरे ऐश्वर्य की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। जब तक उसके प्रराब्ध कर्मों का संस्कार बना रहता है तब तक स्थूल शरीर को चक्रभ्रम की गति के समान धारण करता है, इसी ही जीवन्मुक्ति कहते हैं।[5] देह– त्याग की दशा में उसे ऐकान्तिक (पूर्णरूपेण)

1. सर्वप्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
   सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥ —न्यायमञ्जरी, पृ॰ 37
2. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
   संसरति, बध्यते, मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः। —तदेव, 62
3. रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
   सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ —सां॰का॰ 63
4. एवं तत्त्वाभ्यासात् – विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्। —तदेव 64
5. सम्यक् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकरणप्राप्तौ।
   तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः॥ —तदेव 67

और आत्यन्तिक (सदा के लिए) मुक्ति मिल जाती है।[1]

5. **योग दर्शनः–**

इस दर्शन के अनुसार आत्मा में स्वतः कोई विकार नहीं होता, परन्तु सदैव परिवर्तनशील चित्त–वृत्तियों में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण उसमें परिवर्तन प्रतीत होता है। जैसे नदी की लहरों में चन्द्रमा का बिम्ब पड़ने पर वह हिलता हुआ प्रतीत होता है। ज्ञान न होने पर आत्मा जगत् की वस्तुओं में सुख– दुःख और राग द्वेष का भाव रखने लगती है। यही बन्धन है।

मोक्ष की प्राप्ति के एकमात्र उपाय चित्त की वृत्तियों का निरोध है। इसी को योग कहा जाता है। पातञ्जलि ने इसके विषय में कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।[2]

चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए योग दर्शन में आठ साधनों का अभ्यास बतलाया गया है। इन आठ सांख्य के अनुसार तीन प्रकार का बन्धन स्वीकार किया गया है– प्राकृति होती है। सांख्य के अनुसार तीन प्रकार का बन्धन स्वीकार किया गया है– प्राकृतिक, वैकारिक और दाक्षणिका। जड़ 'प्रकृति' को ही 'आत्मा' समझ का उसमें तन्मय हो जाना प्राकृतिक बन्धन है। महत्त्व आदि 'विकार' को ही आत्मा समझ का उसमें तन्म्य हो जाना 'वकारिक बन्धन' है। विदेहों को वैकारिक बन्धन होता है। आत्मा के स्वरूप को न जानकर यज्ञ आदि करने में ही सदा निरत रहना 'दाक्षणिक बन्धन' है।[3]

दिव्य तथा अदिव्य विषयों का भोग करने वाले जीव का 'दाक्षिणिक बन्धन होता है। समाहित–चित्त होकर 'ईश्वर' के चिन्तन से सात्त्विकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। योगी के मन में इच्छा के अनमिघात रूप ऐश्वर्य का क्रमिक सञ्चार होता है। इसमें भी बहुत से विघ्न होते हैं। इन विघ्नों का नाश 'ईश्वर' के ध्यान से होता है। इसलिए चित्त को

---

1. प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ —तदेव 68
2. योगश्चित्तवृत्तिः निरोः —पा॰यो॰सू॰ 1/2
3. भा॰द॰, पृ॰ 341, 343

समाधिस्य बना कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए ईश्वर का चिन्तन चित्त को समाधिस्य बना कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए ईश्वर का चिन्तन एक बहुत ही उपयुक्त साधन है।

आत्मा और के मध्य-अविद्या के कारण अनादि सम्बन्ध रहता है। इस कारण से आत्मा को अपनी बुद्धि से अभिन्न होने का भ्रम होता है जिससे वह बन्धन में पड़ा रहता है। दुःखमय है। विवेकी को सब कुछ दुःख से पूर्ण दिखाई देता है। अज्ञान के कारण तीन प्रकार के ताप सहने पड़ते हैं। सम्यक् दर्शन से तापत्रय का निरोध किया जा सकता है। जिस प्रकार आयुर्वेद व्याधि, व्याधि के कारण, व्याधि की चिकित्सा और औषध-प्रयोग का विचार करता है, उसी प्रकार मोक्ष- शास्त्र भी संसार के कारण, मोक्ष तथा मोक्ष के उपाय का विचार करता है। संसार दुःखमय होने से हेय है, भविष्य में आने वाले दुःख हेय है अर्थात् उनसे अपने को बचाना है आत्मा का बुद्धि से सम्बन्ध इसका कारण है। अज्ञान इस सम्बन्ध का कारण है। जब अज्ञान का नाश हो जाता है, तब यह सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता है और आत्मा मुक्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही आत्मा का कैवल्य है।

6. मीमांसा दर्शनः-

मीमांसा दर्शन में प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य प्रभाकर के अनुसार जीवात्मा को शरीरादि की प्राप्ति उसके धर्म और अधर्म के फलस्वरूप ही होती है। वही जीव का बन्धन है। जीव को शरीादि बन्धनों से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब उसके 'धर्म' और 'अधर्म का आत्यन्तिक विनाश हो जाये। प्रभाकर-मीमांसा में 'धर्म' और 'अधर्म' के विशेष रूप में विनाश होने के कारण देह का जो आत्यन्तिक नाश होता है, उसे मोक्ष कहते हैं।[1]

प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत् कारागार में डाल रखा है। आत्मा शरीराच्छिन्न बनकर हन्द्रियों के साहय्य से बाह्म विषयों का अनुभव करता है। अतः इन बन्धनों से संसारश्रृंखला में जीव को जकड़ रखा है- भोगायतन शरीर, भेगसाधन इन्द्रिय, भोगविषय पदार्थ। इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को कहते हैं। मोक्ष के

1. भा०द०, पृ० 250

महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसकों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया है। मोक्ष की परिभाषा थोड़े शब्दों में इस प्रकार है-प्रपञ्चसम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है।[1]

धर्म तथा अधर्म का निःशेष रूप से नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को ही प्रभाकर मोक्ष कहते हैं। वस्तुतः धर्माधर्म के वशीभूत होकर जीव नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता रहता है। धर्माधर्म का नाश होने से, इनसे उत्पन्न देह, इन्द्रिय आदि के सम्बन्धों सर्वथा रहित होकर जीव सांसारिक दुःख के बन्धनों से छुटकारा पाने पर 'मुक्त' होता है। भाट्टमत में कर्मफलों के उपभोग से ही क्षय नहीं होता है, किन्तु प्रभाकर का कहना है केवल उपभोग से ही क्षय नहीं होता, किन्तु शम, दम ब्रह्मचर्य आदि योगाङ्गों के पालन के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान की धर्माधर्म के निःशेष नाश से उत्पन्न देह का आत्यन्तिक उल्छेद में मोक्ष ही 'मुक्ति' है।[2]

7. वेदान्त दर्शन :–

वेदान्त दर्शन में बन्ध एवं मोक्ष अपने यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में अनभिज्ञता तथा अभिज्ञता का ही नाम है। अज्ञान के निवारण से ही परमार्थ सत्ता की प्राप्ति होती है, जिसे मोक्ष कहा गया है।[3] ब्रह्मा का ज्ञान करके ऐसा नहीं कहा जा सकता कि किसी नव वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया है, क्योंकि वह नित्य नित्य उपलब्ध वस्तु है, केवलमात्र उसके सत्यस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है, जिसको पहले अज्ञानवश कुछ और ही समझा जा रहा था।[4]

अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञान प्रकाशित हो जाती है।[5] जैसे एक रज्जु के खण्ड का उस समय यथार्थ ज्ञान होता है, जब उसके प्रति ऐसा मिथ्याविचार कि यह साँप है खण्डित हो जाता है।[6] ब्रह्म-प्राप्ति का

1. प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः —भा॰द॰, पृ॰ 252
2. भा॰द॰, पृ॰ 253
3. स्वात्मन्यवस्थानम्। —ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 4/4, 1/3
4. ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 3–2, 21
5. ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 4/4, 1/3
6. वे॰सा॰, सू॰सं॰ 137, पृ॰ 119

कथन इस तरह केवल उपचारमात्र से प्रयुक्त है। जैसे स्फटिक
रक्त-पुष्प के सान्निध्य से लाल प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार
अज्ञान से जीव रूप में दिखाई देता है। जैसे एक ही सूर्य घट-पट
अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बत होता है, वैसे ही एक ब्रह्म विवध
के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है। जैसे एक
घट-पट भेदों से अनेक प्रकार से प्रतिबिम्वत होता है, वैसे ही एक
विवध उपाधियों के कारण अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बत होता है,
एक ब्रह्म विवध उपाधियों के कारण अनेक प्रकार से प्रतिभासित हो
माया की शक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं। विशुद्ध अद्वयात्मा को आवरण
उसी प्रकार जीव के ज्ञान चक्षुओं से ढक लेती है, जैसे राहु
तेजोमय सूर्य को।[1] इस तरह अपने स्वरूप को भूल जाने से आत्म
तिरोहित-सा होने पर व्यक्ति अनात्म शरीर को ही आसक्ति से
ऐसा समझने लगता है। उस समय रजोगुण की प्रबल विक्षेप शक्ति
काम-क्रोधादि बाँधने वाले गुणों से व्यथित करने लगती है।[2]
अध्याय प्रकट हो जाने पर, अद्वितीय ब्रह्मरूप सकल प्रपञ्च को
से देखकर भ्रान्त हो जाता है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान की शृँखला में
जाने से पूर्णतया बद्ध जाता है[3] और संसृति-चक्र में घूमता रहता है
प्राप्ति से तात्पर्य जगत् के नष्ट हो जाने का नहीं है, जैसे कि
अग्नि के ऊपर रखकर उसके कठोरत्व का विनाश किया जाता है।[4]

यदि मोक्ष से तात्पर्य जगत् के नानात्व वस्तुओं का विना
तब पहले-पहल जब किसी एक व्यक्ति ने मोक्ष प्राप्त किया होगा
जगत् को विनष्ट हो जाना चाहिए था।[5] अतः सत्य-प्राप्ति से अ
अनेकत्व का नाश नहीं प्रत्युत केवलमात्र अनेकत्व के भा

---

1. अखण्डनित्याद्वयाबोधशक्त्या-तमोमयी राहुरिवार्कब्रिम्बम्। —वि॰चू॰ 141, पृ॰
2. तिरोभूते स्वात्मन्यन्यम् - रजसउरुशक्तिव्यर्थयति। —वि॰चू॰ 141, पृ॰ 46-
3. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां - सुखदुःखेऽतस्मिननसति न इदम्। —पं॰द॰ 132
4. ब्र॰सू॰ 3-1, 21 तथा ब्र॰उपा॰ 4-5, 13
5. एकेन चादिमुतेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत
इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगत् अभविष्य्। —ब्र॰सू॰ 3-1, 21

अभाव है।[1] जगत् केवन भ्रान्तिमय है- इसका तात्पर्य यह है कि यह आनुभविक जगत् आत्मा, वस्तुएँ एवं ईश्वरादि भेदों सहित ऐसे व्यक्ति के लिए, जो बाह्य तथा आत्मा के एकत्व को जान पड़ता है, विलुप्त हो जाता है।[2] अर्थात् हमारी सीमित अन्तर्दृष्टि को जगत् जिस रूप में प्रतीत होता है वह रूप आत्मा तथा ब्रह्म से एकत्व को जानकर परिर्वतत हो जाता है।[3] यह साक्षात् ब्रह्मरूप ही। इस तरह सर्वात्मभाव प्राप्ति ही मोक्ष है।[4] इस दशा में वैयक्तिक चेतना (विशेष-विज्ञान) लुप्त होती है, समस्त चैतन्य नहीं। आत्मा का विशुद्ध सारतत्त्व (विज्ञानघनात्मा) विद्यमान रहता है।[5] अतः केवल मोक्ष में प्रतिबन्ध पैदा करने वाले सहायक समाप्त हो जाते हैं, परन्तु स्वयं आत्मा विनष्ट नहीं होती है।[6]

यह मुक्ति कर्मजन्य नहीं है, क्योंकि कर्तृव्य आदि द्वैत में ही सम्भव है और द्वैत के दर्शन में असम्भव है। अतः काम्य और निषिद्ध कर्मों को छोड़कर ही व्यक्ति इसका अधिकारी बनता है कर्मों का मूल कार्य है और ब्रह्माविद्या ही मंगलकारी है अर्थात् निष्कामभाव से ज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कर्म फलहेतु न बनकर मुक्ति दिलाने वाला ही होता है।[7] परन्तु नैतिक गुणों को चित्तशुद्धि के लिए मूल कारण माना गया है। सदानन्द ने भी वेदान्तसार में ऐसा ही मत निरूपित किया है।[8]

---

1. अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् बुद्धवा ब्रह्माद्वयं बोधं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः।
—पं॰द॰ 4-40, 41
2. गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात्।
—ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 1-2, 6.
3. ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 1-2, 12 तथा 1-2, 20
4. स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वम् एव। —ब्र॰सू॰शां॰भा॰ वै॰उप॰ 2-1
5. ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 1-4, 22 तथा बृ॰उप॰ 4-3, 30
6. उपाधिप्रलयमेवायं नात्मप्रत्ययम्। —ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 2-1, 14
7. (क) सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ —भ॰गी॰, 2/38
(ख) विहाय कामान्यः सर्वान्पुमानश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ —भ॰ग्री॰, 2/71
8. वे॰सा॰, पृ॰ 3

श्रवन, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदि मोक्ष प्राप्ति के सहायक साधन बतलाये गये हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से समाधि दो प्रकार की है। दूसरी में ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत नहीं रहता। यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्पक समाधि आदि इसके अंग बतलाये गये हैं।[1] जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति में प्रथम से प्राणी की बुद्धि तत्त्व में निष्ठा प्राप्त कर लेती है। संसार के कर्तृत्वादि समस्त बन्धनों से छुटकारा हो जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी अवस्था वाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहते हैं।[2] अतः जिसकी बुद्धि स्थित हो जाये निरन्तर आनन्द का अनुभव करे एवं प्रमेय-प्रपञ्च विस्मृत प्रायः हो जाये वही जीवनमुक्त होता है। जरामरण शरीर के धर्म, क्षुत्पिपासा प्राण के धर्म और शोक, मोह तभी से छुटकारा पाकर वह शरीर रहते ही मुक्त होता है। जिस प्रकार मिट्टी का पात्र बन जाने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार मोक्ष के बाद जीवन बना रहता है। पहले से जो इसने गति प्राप्त कर ली है, उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नहीं होता।[3] विदेह मुक्ति शरीर के समाप्त होने पर प्राप्त होती है। संचित एवं क्रियमाण तो ज्ञानग्नि से दग्ध हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध भी भोग से नष्ट होकर शरीर पतन कर देता है। तब ब्रह्मभाव से ब्रह्म ही हो जाता है।[4] संशयों और कामनाओं की क्षीण होने से यह आनन्द की भावरूप दशा ही होती है।[5] विविध पुष्पों से लाये हुए मधु की तरह ब्रह्म के आनन्द में मिलकर एक हो जाता है।[6] ऐसा ही वेदान्तसार में भी बतलाया गया है।[7]

1. वे॰सा॰, पृ॰ 89, तः 97
2. जहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
   आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ —भ॰गी॰ 2-54
3. ब्र॰सू॰शां॰भा॰ 4-1, 15 तथा तस्य तावदेव चिरं
   यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये। —छज्ञं॰उप॰ 6-14, 2
4. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। —गुण्ड॰उप॰ 3-2, 9 तथा वृहद्॰ उप॰ 4-4, 25
5. मु॰उप॰ 2-2, 8
6. यथा सोम्य मधुकृतो न विदुः सम्पद्यामहे इति। —छां॰उप॰ 6-9, 1-3
7. वे॰सा॰, पृ॰ 105

चतुर्थ अध्याय

शैवाचार्यों का अज्ञान–ज्ञान विषयक मत विश्लेषण

काश्मीर शैव दर्शन में अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान न होना ही 'अज्ञान' माना गया है। वास्तव में परमात्मा सर्वथा परिपूर्ण, शुद्ध असीमित, असंकुचित एवं स्वतन्त्र संवित् रूप ही होता है। अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से ही सब कुछ जानने एवं करने में समर्थ होता है। चित् आनन्द इच्छा, परमेश्वर कहलाता है। अपनी परमाद्वैत अवस्था में अपनी पूर्ण प्रकाशसत्ता और स्वरूप विमर्शनता से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व समन्वित परमेश्वर अभिहित होता है। परमाद्वैत अवस्था में अपनी पूर्ण प्रकाशसत्ता और स्वरूप विमर्शनता से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व समन्वित परमेश्वर अभिहित होता है। परन्तु अपने स्वातन्त्र्य विलास से जब अपने पारमार्थिक स्वरूप एवं विमर्श में संकोच का अभिनय-सा प्रारम्भ करता है। अर्थात् एक से दो (अहं और इदं) का चित्रण करता है। एकता का जिसमें दो समझते हुए भी ज्ञान रहता है, तब उसकी ज्ञान और क्रिया शुद्धाशुद्ध कहलाती है। जब अनेकता अर्थात् अहं से इदं (विश्व) को पूर्णतया पृथक, अनुभाव करता है तो यह (विद्या) ज्ञान और क्रिया अशुद्ध कहलाती है। यथा पुरुषादि भय पूर्ण शुद्ध ज्ञान (विद्या) ज्ञान क्रियादि शक्तियों का शुद्धाशुद्ध अथवा निकृष्ट अशुद्धता को धारण कर लेना ही संकोच अभिहित होता है। इस प्रकार परमेश्वर का अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अवभिहित होता है। इस प्रकार परमेश्वर का अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अवभासित स्वरूप-गोपनारूपा महामाया शक्ति के माध्यम से अपनी असीमितात्मा अनात्रित शिव प्रभृति माया प्रमात्रन्त अवभासित करना संकोच अथवा अज्ञान कहलाता है। यही

---

1. यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूप-गोपनत्मिकया महामायाशक्त्या..... ....शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावो......... संकुचितज्ञानात्मा बन्धः।
—शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 16

शिवा भेद अख्याति रूप अज्ञान अथवा संकुचित ज्ञान व अज्ञान कहा जाता है।[1] इसी को बन्धन कहा जाता है। यह पूर्ण स्वरूप की अज्ञान ही (अविद्या) 'मल' कहा जाता है, जो संसारी भाव का कारण है। इसी अज्ञान के कारण प्राणियों का बन्धन माना जाता है और उनका सृष्टि, स्थिति एवं संहार होता है।[1] प्रत्यभिज्ञादर्शन।[2] में इस अज्ञान को ज्ञान का अभावरूप नहीं माना गया है,[3] प्रत्युत् ज्ञान के परिच्छिन (संकुचित) रूप को ही मल, जड़ता अथवा अज्ञान अथवा अज्ञान कहा गया है।[4] स्वात्मा के रूप एवं शक्तियों के संकोचों में त्रिविध मलों महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है, जिन्हें आणव, मायीय और कार्म मल कहा जाता है।

(क) आणव मल :-

अनात्मवस्तु को ही आत्मा-स्वरूप समझना अर्थात् अपनी शुद्ध प्रकाशरूपता को भूलकर शून्य, प्राण बु द्धि शरीरादि में ही अहन्ता भाव मान लेना एवं ऐसे जड़ भावों में ही अपने कर्तृत्व को सीमित कर देना ही 'आणव मल' अभिहित होता है।[5] वास्तव में जब परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति निमज्जित करके भेदव्याति का अवलम्बन करता है, तब अप्रतिहतरूपा इच्छाशक्ति संकुचित होने पर आणव मल बन जाती है।[6] जिससे जीव अपने पूर्ण स्वरूप को भूलकर अपूर्ण(अणु संकुचित) को ही अपनी आत्मा मान लेता है। इसके दो प्रकार माने जाते है। एक में तो चिदात्मा (प्रकाश रूपता) के होने पर भी अपनी

---

1. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराकुरकारणम् मावि॰ एवं अज्ञानाबध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्चसंहन्ति। सर्वाचार शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 16
2. प्रकाशात्मा प्रकाशयोऽथौ नाप्रकाशश्च सिद्धार्थ। —ई॰प्र॰का॰ 1/34
3. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसंगत।
   सहिलोष्टादिकेऽप्यास्ति न च तस्यास्ति संसृति।
   अतोज्ञेयस्य .... भाषितम्। —तं॰आ॰ 1/25, 26
4. परिच्छिन्नप्रकाशत्त्वं जड़स्य किल लक्षणम्।
   जड़ाद्विलक्षणोबोधोयतो न परिमीयते॥ —बो॰प॰, 8
5. शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमल। —शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 16
6. तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचिता
   सती अपूर्णमन्यतारूपम् आणवमलम्। —प्र॰ह॰, पृ॰ 65, 66

वातन्त्र्यशक्ति का विज्ञानक्लों की भांति ज्ञान न होने से अपूर्णता प्रतीत ोती है। इन दोनों प्रकारों से स्वरूप का ही संकोच होता है।[1]

(ख) मायीय मल :-

अपने से सर्वथा अभिन्न परमेश्वर एवं अन्य जागतिक पदार्थों को भिन्न समझना अर्थात् संकुचित भेद दृष्टि का अपनाना मायीय मल कहा जाता है।[2] ज्ञान शक्ति क्रम से संकोच के कारण भेद दशा में सर्वज्ञत्व से केञ्चितज्ञत्व को प्राप्त होकर अन्तः करण-बुद्धिन्द्रियों के रूप में अत्यन्त संकुचित होकर भिन्न वेद्यप्रया रूप मायीय मल बन जाती है।[3]

(ग) कार्ममल :-

अपने को अपूर्ण एवं दूसरों से सर्वथा पृथक् समझने के कारण यह अपने पुर्ण कर्त्तृत्व को भूलकर संकुचित शरीरादि की क्रियाओं में अपना अभिमान करने लगता है। इस सीमित शुभाशुभ कर्तृत्व एवं इसके संस्कारों से बंधा हुआ शुभाशुभ योनियों में सञ्चरण करता रहता है अतः यह शुभाशुभ वासनात्मक ज्ञान ही कार्ममल कहलाता है। भेददशा में परमेश्वर की क्रिया शक्ति ही सर्वकर्तृत्व से अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होकर कर्मोन्द्रियों के रूप में अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कर्ममल बन जाती है।[4]

ये तीनों ही मल परमेश्वर की स्वेच्छा से मायाशक्ति द्वारा अवकल्पित होते हैं।[5] अतः इस प्रकार माया एवं उसके पञ्च कञ्चुकों द्वारा आवेष्टित होकर चित्-आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया अथवा सर्वकर्त्तृत्व सर्वज्ञातृत्व पूर्णत्व नित्यत्व और व्यापकतव शक्तियों का

1. स्वातन्त्र्यहानिबोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
   द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ —ई॰प्र॰का॰ 3/15
2. भिन्नवेद्य प्रथात्रैव मायारव्य। —ई॰प्र॰का॰ 3/16
3. ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञावाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रि-यतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 66
4. क्रियाशक्ति क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहण-पूर्वम् अत्यन्तं परिमितता प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमय कार्ममलं। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 66
5. तन्मलत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते। —ई॰प्र॰का॰वृ॰, पृ॰ 65

संकोच ग्रहण करके कला, ज्ञान, राग काल और नियति आदि रूपों को धारण करना ही शिव का पशुभाव (अज्ञान) कहलाता है। इस प्रकार शुद्ध चिद्रूप और उसकी शक्तियों में संकोच आने से अविद्याग्रस्त (मलयुक्त) हुआ वह संसारी हो जाता है।[1] चित्ति भगवती अपनी सर्वभौम चैमन्यता की अनुभूति को सीमित अनुभूति वाले चित्त (अन्तःकरण) रूप में अभिव्यक्त कर देती है।[2] जिससे असीमित ज्ञान, क्रिया और माया शक्मियाँ सीमित सत्व, रजस् और तमस् गुण बन जाती है।[3] सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्चकृतयों की अनभिज्ञयता से प्रमाता अपनी ही शक्तियों द्वारा विमोहित हुआ बन्धन में फंस जाता है।[4] परन्तु उनके परिज्ञान में चित्त अन्तर्मुखीभाव से युक्त हुआ सार्वभौम चैतन्यारूढ़ होने से चित्ति बन जाता है।[5]

क्षेमराज के अनुसार चिति शक्ति वामेश्वरी ही खेचरी–गोचरी-दिक्चरी–भूचरी रूपों द्वारा अशेष–प्रमातृ–अन्तःकरण, बहिष्करण भाव स्वभावों में रूप में परिस्फुटित होती है। संसारी दशापन्न करने के लिये इनमें भेददृष्टि और पतिदशा समान्वित करने के लिए अभेददृष्टि उत्पन्न कर देती है।[6] अथवा चिदात्मा परमेश्वर की स्वानपायिनी, अद्वितीय, स्फुरतासार, कर्त्तृतात्मा, ऐश्वर्यशक्ति का स्वरूप पाकर पुर्यष्टक कलाओं द्वारा विमोहित करना बन्धन कहलाता है। परन्तु वही जब मध्यधाम उल्लासरूपा उदानशक्ति एवं विश्वव्याप्तिसार व्यान शक्ति के रूप में तुर्यदशा और चिदानन्द घन तुर्यातीत दशा को उन्मीलित करता है तो

---

1. चिद्वत् तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। —प्र॰हृ॰ सू॰ 9
2. चितिरैव चेतनपदादवरूढ़ा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। —तदेव सू॰ 5
3. स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   मायातृतीये ते एव पशो सत्व रजस्तमः॥ —ई॰प्र॰का॰ 4/4
4. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिवर्यामोहितता संसारित्वम्। —प्र॰हृ॰ सू॰ 12
5. तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखी भावेन चेतनपदा ध्यारोहात् चितिः। —तेदेव सू॰ 13
6. चितिशक्तिरेव भगवती–वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी गोचरी दिक्चरी भूचरीरूपैः अशेषः प्रमातृ–अन्तःकरण बहिष्करण–मानवस्वभावः परिस्फुरून्ती पशुभूमिकायांपतिहदयविकासिना स्फुरति। भट्टदामोदरेण विभुककेषुपूणविच्छन्नमात्रान्वहिष्करण मानवा वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदा। —प्र॰हृ॰, पृ॰ 73, 74

देहादि में अवस्थित प्राणी भी पतिदशा (जीवन्मुक्ति) का अनुभव करता है।[1] इसी प्रकार चित्प्रकाश से अव्यतिरिक, नित्योदिमत, महामन्त्ररूपा, पूर्णहंविमर्शमयी आदि ज्ञान रूप समस्त शक्ति समूह की गर्भिणी परावाक शक्ति होती है, जो पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूपों में ग्रहकों में आभसित होती है। अज्ञान प्रमाताओं में शुद्धस्वरूप होती भी परिच्छिन्नरूप एवं अनुभवों से आच्छादित सी रहती है, जिससे ब्राह्मी आदि देवताओं द्वारा अधिष्ठित ककारादि विचित्र शक्तियों द्वारा विमोहित मढ़जन पराधीन हुआ परिमित प्राणियों को ही अपनी आत्मा मानने लगता है। ये ब्राह्मी आदि देवी-देवियां पशु दशा में भेद विषयक सृष्टि स्थिति और अभेद सम्बन्धी संहत करके प्रमाता को परिमत विक्तप का पात्र बना देती है; परन्तु पतिदशा भेद का संहार और अभेद की सृष्टि स्थिति अन्मीलित कर देती है।[2] अतः चित्प्रकाश का संकोच ग्रहण करना एवं अपनी शक्तियों द्वारा काममोहित होना ही अज्ञान एवं उनका कारण है।[3]

1. अज्ञान :-

इस प्रकार अज्ञान शैवाचार्यों के अनुसार बन्धन का लक्षण अज्ञान और मुक्ति का लक्षण विद्या कहा गया है।[4] अज्ञान को काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता है। यहां ज्ञान के संकोच को अज्ञान कहा जाता है।[5] इस "अज्ञान शब्द्ध में 'न' निषेधार्थक न होकर अल्पार्थक ही होता है। आत्मदेववस्तुतः अपरिमित और शुद्ध प्रकाश है,

1. अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकैवस्फुरत्तासार कर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्ति। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाश्वे पदे प्राणापन-समानशक्तिशालि..... पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिमर्वति। -प्र॰हृ॰, पृ॰ 74, 75
2. चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्त नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी.....परावाक्शक्ति .... अविकल्प भूमिमेव उन्मीलयति। -प्र॰हृ॰, पृ॰ 75
3. चित्प्रकाशो गृहीतसंकोचः संसारी .... स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्व भवति..........। -प्र॰हृ॰, पृ॰ 75
4. इह तावत् समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृतेर्मूलं ज्ञानं मोक्षैककारणम्॥ -तं॰आ॰, 1/22
5. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ -ई॰प्र॰ 2-2-4

परन्त विद्या (ज्ञान) के संकोच के कारण जीव दशा में परिमित और जड़ वस्तु को अर्थात् शरीर आदि को ही अपना आप समझ बैठता है। आत्मदेव की ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति दोनों ही वस्तुतः असीम होती है, परन्तु माया (अज्ञान) के प्रभाव से अभिव्यक्त हुए जीव भाव में वह अपने को सर्वज्ञ और शक्तिमान समझता हुआ अल्पज्ञ और अल्पशक्ति ही समझ बैठता है। इस से अपने स्वरूप और अपने स्भाव के ज्ञान में अतीव संकोच का अवभास होता है। यही इसका अज्ञान का कारण है अथवा अज्ञान है। इस अज्ञान (विज्ञान) के दो आश्रय होते हैं। जिसमें यह दो प्रकार का हो जाता है। एक आश्रय तो स्वयं पुरुष या जीव होता है। यही अभाव आदि मलों का पात्र बना रहता है।[1] यह मल ही उसका अज्ञान है। विद्या का दूसरा आश्रय होता है- पुरुष की बुद्धि। पौरुष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि भी ज्ञान संकोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही समझती रहती है और तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों की कल्पना करती रहती है। वस्तु को शिवरूप में समझना शुद्ध विकल्प होने का ज्ञान ही सही ज्ञान है और उसे प्रमेयरूप में समझना अज्ञान है। जीव के इस अशुद्ध विकल्पों को करते रहने वे स्वभाव को बौद्ध अज्ञान कहते है।[2] बौद्ध समझ का अज्ञान होता है और पौरुष अज्ञान मूल अज्ञान होता है। पौरुष अज्ञान के कारण जीव पर जीवभाव का पक्का संस्कार जागता हआ जमा रहता है और शिव भाव का संस्कार विलीन हुआ सा और सुषुप्त होकर पड़ा रहता है। बौद्ध अज्ञान के कारण जीव अपनी बुद्धि द्वारा अपने शरीर आदि जड़ पदार्थ को ही निश्चयपूर्वक अपना आप समझता

1. ज्ञानाज्ञनस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः।
   द्विधापौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने॥
   स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम्॥
   संकोचि यत्क्रियारूपं तत् पशोरविकल्पितम्।
   तदज्ञानं न बुद्ध्यंशोऽध्यवसायाद्यभावतः॥ —तं॰आ॰ 1-36 त॰ 38
2. अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी।
   षटकञ्चुकाविलाणुत्थप्रतिबिम्बनतो यदा॥
   धीर्जायते तदा तादृग ज्ञानमज्ञान शब्दितम्।
   बौद्धं तस्य च तत पौस्नं पौषणीयं च पौस्टद च। —तं॰आ॰ 1-39-40

हुआ सांसारिक व्यवहार को चलाता रहता है। वह संकुचित अहंभाव और सीमित ममत्व से ही प्रेरित होता हुआ सब कुछ करता है। संसार के पदार्थों को शिवात्मक न समझता हुआ उन्हें निश्चयपूर्वक घर आदि जड़ वस्तु के ही रूप में समझता रहता है।

2. **ज्ञानः-**

काश्मीर शैवदर्शन में अपने परमार्थ स्वरूप का प्रत्याभिज्ञान ही ज्ञान कही गई है।[1] यह किसी अन्य लोक में गमन अथवा कोई धाम (पदवी) विशेष नहीं है; प्रत्युत् अपने परमार्थ पूर्णस्वरूप विषयक अज्ञान की (अज्ञान) ग्रन्थि पड़ जाती है। उसका छिन्न होकर पुनः अपनी अबाधित शक्तियों का प्रभन अभिव्यक्त होना मात्र है।[2] अतः अपने तात्त्विक स्वरूप के को ही ज्ञान माना गया है।[3] यह अपने आत्मिक बल का स्पर्श है, जिससे पशु भाव की निवृत्ति होकर शिवता की उपलब्धि होती है।[4] उपलब्धि से यहां यह तात्पर्य नहीं है कि कोई वस्तु पहले प्राप्त नहीं थी अथवा सर्वथा नवीन वस्तु की प्राप्ति होती है। प्रत्युत् न तो कहीं जाकर अथवा न ही कुछ छोड़कर अपने ही नित्य सनातन आत्मा महेश्वर की अनुभूति करना है, जो मायावश शरीरादि अनात्म पदार्थों में हो रही थी।[5] अपने पञ्चकृत्यकारित्व एवं शक्तियों के परिज्ञान में चित्त पुनः अन्तर्मुखीभाव से सार्वभौम चेमनपद को प्राप्त हुआ चित्ति भगवती हो जाता है।[6] अर्थात् पशभाव अपने असीमित सामर्थ्य को भूल जाता ही है और अपने माहेश्वर्य की अनुभूति करना पतिभाव (शिवत्व अभिव्यक्ति है।[7] अतः जीव जब प्राणादि धारण किये रहने पर भी अपनी शक्तियों से

1. सम्यग्ज्ञानस्वभावा हि विद्या साक्षात् विमोचिका। —तं॰आ॰, भा॰ 9, आह॰ 15-9
2. प॰सा॰, का॰ 60
3. मोक्षो हि नाम नैवान्य स्वरूपप्रथनं हि तत्। —तं॰आ॰भा॰, पृ॰ 192
4. आत्म्बलस्पशति पुरुषो तत्समो भवेत्। —स्प॰का॰, 3/8
5. न क्वापि गत्वा हित्वापि न किञ्चिदिदमेव ये।
   भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥ —शि॰स्तो॰, 20/10
6. तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः। —प्र॰हृ॰, सू॰ 13
7. तथाविघश्च अयं दरिद्रः संसारी उच्यते।
   स्वशक्तिविकासे तु शिव एव॥ —शि॰, पृ॰ 66

व्यामोहित नहीं होता, तो भावनाओं की दृष्टि में वह शरीरी परमेश्वर कहलाता है।[1] प्रत्यभिज्ञाटीका में कहा गया है कि छत्तीस तत्त्वमय शरीर अथवा घटादि को भी जो शिवरूप में देखते हैं, वे भी सिद्धि को प्राप्त होते है।[2] जिस समय चिति देह, प्राणादि कोशों को दबाकर अपने (स्फोर) स्वरूप उन्मेष (बल) को प्राप्त होती है, तो ऐसी दशा को प्राप्त प्रमाता क्षित्यादिसदाशिवान्त विश्व को आत्मसात कर लेता है अर्थात् स्वस्वरूप से उभेदरूप में निर्भासित होता है।[3] ऐसी बात नहीं है कि यह विश्वात्मसात्काररूपा समावेश दशा कभी-कभी होती हो, तब तो यह उपादेया ही नहीं होगी प्रत्युतवास्तविकता यह है कि देहादि वाली (अस्थायी) जैसे लगती है कारण ही चित्ति के स्वातन्त्र्य से अवभासित देहादि के आविर्भाव के ही कारण कदाचित्की है। यह सदा ही प्रकाशमानरूपा है, अन्यथा देहादि का भी प्रकाश न होता।[4] इसलिए अभ्यास (साधन-उपाय) देहादि के भी प्रमातृता अभिमान (मिथ्या तादात्म्य) को दूर करने के लिये होता है, न कि सदा प्रयमानतासार (प्रकाशमानतारूप) प्रमातृता (शिवता) की प्राप्ति के लिए होता हैः ऐसा श्री प्रत्यभिज्ञाकार का मत है।[5] अतः सभी कुछ शिवमय होने से ज्ञान और अज्ञान (बन्ध और मोक्ष) अपने आप में कुछ नहीं है। केवल द्वैत

1. शरीरीपरमेश्वरः एवं मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः। —शि॰, पृ॰ 75,76
2. शरीरमेव धरादि वाच्यं षटत्रिशंतत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।
—शि॰, पृ॰ 76
3. बललाभे विश्वमात्मसात्करोति। —तदेव, सू॰ 15, तदेव, पृ॰ 79
4. न चैवं वक्तव्यम....विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की।.....
यतो देहाद्युन्मज्जननिमजनवशेन हृदयं अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति।
....एषा तु सदैव प्रकाशमाना, अन्यथा तत देहादि अपि न प्रकाशेत्।
—प्र॰हृ॰, पृ॰ 80
5. अत एव देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः,
न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्तत्यर्थम्, इति श्री प्रत्याभिज्ञाकारा।
—प्र॰हृ॰, पृ॰ 81
6. (क) बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः। —शि॰दृ॰, पृ॰ 3/68
(ख) एवं सर्वस्य शिवत्वे बन्धमोक्षाभावात् शिवोऽहमिति सर्वस्य किमिति ज्ञानं न भवतीति .... सैवेषा विमोहिता अज्ञानलक्षण च संसारी बन्ध उच्यते इति स्थितावज्ञानरूपौ बन्धमोक्षौ। —शि॰दृ॰, पृ॰ 125, 126

की प्रतीति ही अज्ञान और अद्वैत की अनुभुति ही ज्ञान माना गया है।[6] वास्तव में अपने स्वातन्त्र्य के विकास से परमसत्ता स्वयं मुक्त, बद्ध, भोक्ता, ज्ञाता एवं अज्ञान-ज्ञान प्राप्ति आदि विविध रूपों को अभिनय करती है।[1]

3. ज्ञानुभूति के साधनः-

जप, तप ध्यान, धारणा, पूजादि सभी आन्तर एवं ब्राह्म साधन माया क्षेत्रवर्ती हैं और आत्मा से ही आभासित होने से घट की तरह शुद्ध प्रकाशरूप सूर्य चैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकते।[2] परन्तु मलावरण का प्रक्षालण करने से शुद्ध संवित् के चमकने से व्यवहार में यही मुक्ति के साधन कहे गये हैं। इन साधन से समावेश लाभ होकर शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठान हो जाता है।[3] ये साधन अथवा उपाय तो अनेक परन्तु इनमें से मुख्य चार हैंः-

(क) अनुपायः-

इसमें साधक को कोई उपाय नहीं करना पड़ता है अथवा सीमित उपाय साधन का अवलम्बन करना पड़ता है। इसको सहजोपाय, आनन्दोपाय एवं सर्वोत्कृष्ट होने से अनुत्तरोपाय भी कहते हैं बिना किसी जप-तप आदि कठोर अभ्यास के सहज ही स्वरूप ज्ञान कराने का सबसे सरल उपाय यही है गुरु के कथनमात्र से निर्मल चित्त साधक "मैं शुद्ध संवित् हूँ" ऐसा परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार तत्क्षण ही कर लेता है।[4]

जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे में स्पर्शमात्र से सत्रन्त हो जाती है, इसी प्रकार किसी सिद्ध पुरुष आदि के कथन, स्पर्शन, दर्शन, चारु-

---

1. (क) स्वयं गृह्णाति देवेशः स्वयं चष्व विमुञ्चति। स्वयं भोक्ता
   स्वयज्ञाता स्वयं चैवोपलिप्येत्। -त॰आ॰आह॰ 13/82
   (ख) न सा जीवकला काचित्संतानद्वयर्वतनी।
   व्याप्त्री विशक्ला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते। -स्प॰का॰वि॰, पृ॰ 144
2. उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः। -त॰आ॰टी॰, भा॰ 1, आ॰ 2 पृ॰ 3
   तथा तं॰सा॰, पृ॰ 9
3. क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुख समाविष्टो भवति साधकः। -प्र॰हृ॰, पृ॰ 86
4. न यजतो न जपतः स्यात्स्याविधिपूर्वकम्।
   एवमेव शिवाभासः तं नुमो भक्तिशालिनम्॥ -शि॰स्तो॰ 111

भक्षण अथवा अनुग्रह करने की इच्छामात्र से एवं स्वयं शिव के शक्तिपात करने से शिवता की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वह समस्त विश्व को अपना ही रूप समझता है।[1]

(ख) शाम्भवोपाय :-

इसमें चित्त को सर्वथा सभी मानसिक व्यापारों से शान्त कर, उसकी स्थिरता का अभ्यास किया जाता है।[2] चलती हुई वायु से रहित स्थान पर जलते हुए दीपक की प्रभा की भांति स्थिर अवस्था में स्वतः अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहा जाता है।[3] विकल्प ही शिवस्वरूप के प्रत्यभिज्ञान में बाधक होता है, अतः निंवकल्प प्रमाता की तीव्र इच्छामात्र से स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। अभ्यास के दृढ़ हो जाने से बिना इच्छा से ही शिव भाव समावेश होने लगता है। इसे इच्छोपाय अथवा अभेदोपाय भी कहते हैं।[4] शाम्भवोपाय की पराकाष्ठा ही अनुपाय कहलाता है।[5] इसमें जब मन न तो किसी विकल्प को छोड़ता है और न ग्रहण ही करता है, इसकी क्रिया स्वतः शान्त हो जाती है और प्रमाता अपने पारमार्थिक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[6] मालिनी विजय में भी ऐसा ही कहा हैं।[7]

(ग) शाक्तोपायः-

इस योग में ज्ञान एवं भावना की ही प्रधानता होती है, अतः इसे ज्ञानोपाय भावनोपाय, भेदाभैदोपाय भी कहते हैं शरीरादि के बन्धन में कारण अहन्ता ममतादि अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर मैं परमशिव ही हूँ

1. शिवसूत्र वि॰ पृ॰ 162 (ख) तं॰सा॰ पृ॰ 9
2. अविकल्पस्वरूप परिशीलनात्मा शाम्भवावेशः। —वि॰मै॰, पृ॰ 16
3. निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
   तदात्मपरात्मत्वे भैरवो मृगलोचने। —वि॰भै॰ 108 एवं भ॰गी॰ 6/19 अमवयो॰ 1/40
4. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवम्। —त॰आ॰आह॰ 1-230
5. स एव पराकाष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते। —त॰आ॰वि॰मा॰ 1, आह॰ 2, पृ॰ 182
6. मा किञ्चत् त्यज, मा गृहाण विरम स्वरस्योचयावस्थितः। —अनु॰ अ॰ 2
7. अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
   जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः॥ —मा॰वि॰ 2/23

सब कुछ मेरी ही अभिव्यक्ति है- ऐसे शूद्ध एवं परिपूर्ण शिवभाव की भावना करना शाक्तोपाय कहलाता है।[1] इसमें साधक का चित्त ही आधार बनता है।[2] शुद्ध ज्ञान प्राप्ति में याग, होम, जप, व्रत और योग प्रसिद्ध है।[3] जिनके विकल्प ज्ञान के दर्पण में अपने संकल्प विकल्पात्मक रूप को पुनः पुनः भैरव भाव से देखते हुए शिवैक्य स्थापित हो जाने से मुक्त हो जाता है।[4] अभिनवगुप्त का कथन है कि अशुद्ध विकल्प के प्रभाव से ही जीव अपने को बद्ध मानते हैं और ऐसा अभिमान ही संसार के प्रतिबन्ध (आवगमन) का होता है। अतः प्रतिद्वन्द्विरूप शुद्ध विकल्प उदित होने से संसार हेतु अशुद्ध विकल्प नष्ट हो जाता है। शुभ विकल्प से वह अपने को समस्त भावों से उत्तीर्ण समझकर अपरिच्छिन्न-संविन्मात्र परमार्थ में अहन्ता करता हुआ विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का अनुभव करता है। यद्यपि परमतत्त्व सर्वत्र सर्वरूपता से प्रकाशमय होने से विकल्प द्वारा खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। अतः शिवात्मा स्वरूवभाव में अभ्यास असम्भव है, तथापि शुद्ध विकल्प द्वैतभाव को नष्ट करता है, जो स्वरूप की अख्यातिमात्र होता है। अतः विकल्प के द्वारा द्वैतापासन किया जाता है।[5] मन्त्र शक्ति, सतर्क और शुद्ध ज्ञान से भी ऐसा समावेश होता है।

(घ) आवोपाय :-

इस उपाय में चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उनको आत्मपरमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है।[6] यह आवलम्बन बुद्धि, प्राण देह और ब्राह्म-प्रमेय जगत्

---

1. सर्वमहंभावभावनात्मक शुद्धविकल्पावमर्शरूपः शाक्तः।
   —वि॰मे॰वि॰, पृ॰ 10 एवं तं॰सा॰, पृ॰ 21
2. उच्चाररहितं वस्तु चेतमैव विचिन्तयन्।
   यं समोवेशमाप्नोति शाक्तो सोऽत्राभिधीयते॥ —मा॰वि॰ 2/22
3. तं॰सा॰, पृ॰ 25
4. तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि।
   आत्मानं भैरवं पश्यन् अचिशन्तन्मयी भवेत्॥ —तं॰आ॰आह॰ 8/208, 209
5. विकल्पबलात् एवं जन्तवो बद्धम् आत्मानं अभिमन्यन्ते
   स्वरूपाख्यातिमात्रं तत्। अतो द्वैतापासनं विकल्पेन क्रियते। —तं॰सा॰, पृ॰ 21 तः 24
6. यदा तूपाययन्तरमासौ स्वसंस्कारार्थ विकल्पोऽपेक्षते तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान्
   परिमितरूपानुपायत्वेन, गृहणन्नणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति।
   —तं॰सा॰, पृ॰ 35

होते हैं, जो कल्पनारूप क्रिया एवं ध्यानादि मानस क्रिया से साध्य हैं। इसलिए इसे क्रियोपाय तथा भेदोपाय भी कहते हैं।[1] अभ्यास के दृढ़ होने पर जड़ता दूर होने से स्वरूप पहचानकर शिवरूप ही हो जाता है अथवा शिवरूपता की प्राप्ति हो जाती है। मालिनी विजय में कहा गया है कि उच्चार (विशेषप्राण प्राणापानादि) कारण (देह पर की जाने वाली यौगिक प्रक्रिया) ध्यान (लय या वाह भावना) वर्ण (सामान्य प्राण अनाहत नाद) और स्थान प्रकल्पना (शरीर, प्राणपायु और ब्राह्म मूर्त आदि) से प्राप्त होने वाला समावेश आणव कहा जाता है।[2]

इन मुख्य उपायों के अतिरिक्त अन्य भी उपायों को योग माना गया है जिन से शिव और जीव का एकत्व ज्ञान हो जाये, क्योंकि इस एकत्व को ही योग कहा जाता है।[3] पतञ्जलि तो चित्त्वृत्ति निरोध को ही योग मानता है।[4] परन्तु इसमें बलात् ऐसा करना भयावह माना गया है।[5]

इसलिए विषयानन्द आस्वाद (खान-पान के आस्वाद) शब्द (संगीत से प्राप्त मनस्तुष्टि (जहां कही मन को प्रसन्नता मिले) आदि की धारणा से भी परमानन्द लाभ होना अभिव्यक्त किया गया है। क्षेमराज ने विकलपज्ञय, शक्तिसंकोच- विकास, ब्राह्मच्छेद, आद्यन्तकोटि निभालन आदि को भी स्वरूप लाभ में उपयुक्त बताया है। स्पन्दशास्त्र में उन्मेय धारणा पर बल दिया गया है। पराकाष्ठा को प्राप्त हुई भक्ति भी मोक्ष प्राप्ति में उपयुक्त बतलाई गई है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में विकल्पज्ञयशिवता प्राप्ति का सहजोपाय माना गया है।

इस प्रकार पता चलता है कि काश्मीर शैवदर्शन में अज्ञान ही बन्धन है, जीवता है, संसारीपन है तथा ज्ञान ही शिवता अथवा मोक्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति अनुपाय, के अनुसरण से हो जाती है।

---

1. त॰आ॰ 1, 1/49
2. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
   यो अवेत्तु समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥ —मा॰वि॰ 2/21
3. योगश्चितवृत्तिनिरोधः। —यो॰सू॰ 1/2
4. एवं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरून्धतो।
   तषां तत् खण्डनयोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः॥
5. यथा निरंकुशो हस्ती कामानप्राप्त निवर्तते।
   अवारितं मनस्तद्वत स्वयमेव विलीयते॥ —अमन॰यो॰ 2/73

पञ्चम अध्याय

ज्ञान और अज्ञान विषयक ज्ञान की प्रासंगिकता

काश्मीर शैवागम में ज्ञान-अज्ञान :-

विश्व के समस्त दार्शनिकों ने ज्ञान व अज्ञान इन दो अतिप्रसिद्ध सार्वभौमिक, व सार्वशास्त्रिक पक्षों के विषय में पर्याप्त विचार प्रस्तुत किया है तथा अपने-अपने प्रकार से इन दोनों (ज्ञान-अज्ञान) की परिभाषा तथा व्याख्यान भी किया है।

विश्वस्तर के दृष्टिकोण से विचार करने पर दार्शनिक क्षेत्र में भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में भारतीय दार्शनिक ज्ञान-अज्ञान की सर्वमूर्धन्यता तो सर्वक्षेष्ठ व सर्वोपरि ही सिद्ध होता है और उसे विश्व का आध्यात्मिक गुरु भी स्वीकार किया जाता है यह प्रसिद्धि भारतीय दार्शनिक ज्ञान को उसके अप्रतिम अतुलनीय सार्वभौमिक व शाश्वत् सिद्धान्तों के अविष्कार के कारण ही मिलती है। पुनः भारतीय शास्त्रों के दृष्टिकोण से विचार करने पर जब हम इस विषय में (ज्ञान, अज्ञान) के विषय में विचार करते हैं तो उस दृष्टिकोण से अद्वैतवादी, निर्गुणब्रह्मवादी या ईश्वराद्वयनयवादी दार्शनिक के सिद्धान्त ही सर्वोपरि सिद्ध होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अद्वैतवेदान्त व काश्मीरशैवादैतसिद्धान्त ही चरम परिणति के रूप में भारतीयदर्शन में प्राप्त होते हैं।

आगमिक अज्ञान का स्वरूपः-

आगमनिगम परम्परा भारतीय ज्ञान-विज्ञान की मूल मानी गई है। भारतीय चिन्तन, विचार की सम्पूर्ण परम्परा ही इन दोनों आगमनिगमों से ही नियन्त्रित होती है तथा केवल बैद्धिकज्ञान से ही तात्त्विकज्ञान का विचार कदापि नहीं किया जाता। क्योंकि बैद्धिक ज्ञान बुद्धितत्त्व पर आधारित होता है तथा बुद्धि का एकमात्र कारण (इन्द्रिय) होने के कारण कर्ता या प्रमाता की भाँति .प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। तथा इसके विपरीत आगमिक या नैगमिक ज्ञान देवप्रयसूत या देवप्रदत्त होता है, अतः उसमें कोई भी त्रुटि हो ही नहीं सकती।

यही कारण है कि भारत में निगमागम परम्परा को ही प्रामाणिक माना जाता है, और तदनुसार ही सिद्धान्तों का निर्माण व अनुसंधान भी किया जाता है।

ज्ञान-अज्ञान प्रायः अन्य पदों से विद्या अविद्य भी कहे जाते हैं। उपनिषदों ने भी यह स्पष्ट कहा है कि जो ज्ञान व अज्ञान को साथ-साथ जानता है, वह अज्ञान (कर्म) से मृत्यु (संसार) को जीतकर ज्ञान से मोक्ष (अमृत) को प्राप्त करता है।[1] इस प्रकरण में जो कर्म व ज्ञान के अर्थे में इन ज्ञान-अज्ञान का प्रतिपादन किया है तो उन्हीं अर्थों में आगमशास्त्रों में भी उक्त वर्णन मिलता है। परन्तु आगम में तथा विशेषताः काश्मीर शैवागम में ज्ञान-अज्ञान पदों के प्रयोग की अपेक्षा प्रायः उनके स्थान पर ज्ञान व अज्ञान पदों का ही तथा मल, माया आदि पदों का ही प्रचुर प्रयोग किया गया है। अतः अज्ञान का कर्मात्मक स्वरूप अभाव वाची न मानकर भाववची संकुचित ज्ञानमय ही काश्मीर शैवागम में स्वीकारा गया है।

महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपादानसार "परमेश्वर का जो दश, अष्टादश तथा चौंसठ भेदों में भिन्न जो आगमशास्त्ररूपी शासन (उपदेश, तत्त्वज्ञान) है, उसका सार त्रिकशास्त्र तथा उसका भी सार मालिनीमत कहा गया है।[2]" अतः मालिनीमत को ही आचार्य अभिनवगुप्त ने भी आगमों के सार रूप में स्वसम्पत्ति प्रदान की है। फलस्वरूप मालिनीविजयोत्तर, शिवसूत्र शिवसूत्रविर्मशनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञादि काश्मीर शैवागम के शास्त्र सभी अज्ञान (अविद्या) के विषय में पूर्णरूप से एकमत ह "यह अज्ञान (अविद्या), जो कि संसार की उत्पत्ति का कारणभूत है, वही मल कहा जाता है।[3] अभिनवगुप्त इसे प्रकारान्तर से कहते है कि "यह अज्ञान (अविद्या) संसार का हेतु

1. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
   अविद्यया मृतयुं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ —ई॰वा॰उप॰, मं॰ 11
2. दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः।
   तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्॥ —तं॰आ॰, 1/8, पृ॰ 44
3. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्। —तं॰आ॰, 1/23, पृ॰ 64

होता है तथा ज्ञान (विद्या) मोक्ष का एकमात्र कारण।[1] भगवत्पादमच्छङ्कराचार्य का भी कथन इसी प्रकार का है कि "वह परमेश्वर की अविद्यात्मिका बीज शक्ति अव्यक्त शब्द से ही निंदिष्ट की जाती है तथा उसी परमेश्वर के आश्रित रहकर मायामयी, महासुप्ति भी कही जाती है। इसी अविद्यात्मिका बीजशक्ति में अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित संसारी जीव सोए रहते हैं।[2] इसी प्रकरण में श्री मच्छङ्कराचार्य अज्ञानत्मिक बीज शक्ति के तीन स्तरों का प्रदर्शन भी श्रुति (निगम) के स्वतः प्रमाण से करते हैं कि "वह यह अव्यक्त (अविज्ञा, माया शक्ति स्वातन्त्र्यशक्ति, अज्ञान, मल) कभी कहीं 'आकाश' शब्द से कही जाती है। "कभी 'अक्षर' शब्द से" तथा कहीं माया शब्द से भी सूचित की जाती है।[3]

इस प्रकार से उक्त प्रकरण में 'आकाश' 'अक्षर' व 'माया' पद अत्यन्त गूढार्थ के भी प्रतिपादक उपलब्ध होते हैं तथा काश्मीर शैवागमोक्त मलत्रय क्रम का अनुमोदन व साम्य सा रखते हुए भी प्रतीत होते हैं। यहाँ यह नवीन उद्भावना करना स्वाभाविक व तर्कसंगत ही प्रतीत होता हैं कि अव्यक्तावस्था 'कार्ममल' की सिद्ध हो जाती है। केवल 'मायातत्त्व' व 'मायावस्था' इन दोनों में केवल आगमोक्त भेदमात्र ही विवक्षित रहता है अन्यथा स्वरूपभेद से तो ये समानार्थक ही सिद्ध हो जाती है। क्योंकि महामाहेश्रायार्याभिनवगुपत पाद ने भी 'मल' के लिए अभिलाषा, अज्ञान, अज्ञान लौकिकप्रथा, भवदोष, अनुप्लव, ग्लानि, शोष, विमूढ़ता, अहंममात्मतातङ्क मायाशक्ति, आवृत्ति, दोषबीज पशुत्व् संसाराङ्कुरकारण इत्यादि शब्द अन्वर्थता के

1. अज्ञानंसंसृतेर्हेतुः ज्ञानं मोक्षैककारणम्। —तं॰आ॰, 1/23, पृ॰ 64
2. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। —सू॰शां॰भा॰, 1/4/3, पृ॰ 464
3. क्वचिदाकाशशब्दर्निदिष्टतम् .... क्वचिदक्षरशब्दोदितम् ....क्वचिन्मायेति सूचितम्। —ब्र॰सू॰शा॰भा॰, 1/4/3, पृ॰ 463

आधार पर भिन्न-भिन्न शास्त्रों में यथावसर यथास्थान प्रयुक्त किए जाते हैं।[1]

इसी के साथ अभिनवगुप्तपाद ने यह स्पष्ट निर्णय प्रदान किया है कि इन "उक्त शब्दों के अतिरिक्त भी अन्य बहुत से शबद अत्यन्त सुगमरूपों वाले (अर्थोंवाले) भी होते हैं, उनसे भी उक्तार्थ(मल, अज्ञान अविद्या) की ही तथ्यभिव्यक्ति होती है। अतः ऐसे शब्दों में भी उन (तर्क, विचार, अनुसंधान) विद्वान् पुरुषों को करना ही चाहिए तथा वह उचित भी होना चाहिए।[2]

इस समाधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीर शैवागम के 'अविद्यास्वरूप' नामक प्रकरण में अज्ञान व मायादि पदों से व्याख्यान या अनुसंधान करने पर भी कोई महान् अन्तर या भेद उपस्थित नहीं होगा, कि जिसपर संशय या सन्देह किया जा सके।

विवेककार ने भी इस अविद्या (अज्ञान) को तिमिर (अन्धकार) स्वीकार किया है।[3] पुनः इसकी आगमिक पभिाषा करते हुए "उसे परमेश्वर के स्वातन्त्रशक्ति के उल्लास से अपने वास्तविकस्वरूप को छिपाकर आत्मा अनात्मा के विपरीत अभिमान के स्वभाववाला जो अपूर्णज्ञान होता है, वही अणवमल (मूलाज्ञान, अज्ञान) कहा जाता है।[4] इसकी द्रव्यरूपता का निरास भी इसी प्रकरण में संकेतित कर दिया गया है।[5] अर्थात् यह 'आणवमल' जोकि मलत्रय में सर्वप्रथम स्वीकार किया

1. मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा।
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढ्यता।
अहंममात्मातङ्को मायाशक्तिरगाविृतिः॥
दोपबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम्।
इत्याद्यन्वर्थसंज्ञाभिस्तत्र तत्रैष भण्यते॥ —तं॰आ॰, 9/84–86, पृ॰ 397
2. शेषास्तु सुगमरूपाः शब्दासतत्रार्थमूह्येदुचितम्। —तं॰आ॰, 9/88, पृ॰ 398
3. अज्ञानं तिमिरं। —तं॰आ॰वि॰, 1/23, पृ॰ 64
4. पारमेश्वरं स्वातन्त्र्योल्लासितस्वरूपगोपनासतत्त्वमात्माना-
त्मनोरन्यथाभिमानस्वभावम् अपूर्णं ज्ञानं, तदेव आणवं मलम्।
—तं॰आ॰वि॰, 1/23, पृ॰ 4
5. न तु नवमाह्निकादौ निषेत्स्यमानं द्रव्यरूपम्। —तं॰आ॰वि॰, 1/23, पृ॰ 64

गया है, वह द्रव्यमात्रस्वरूप न होकर "जोकि मलत्रय में सर्वप्रथम स्वीकार किया गया है, वह द्रव्यमात्रस्वरूप न होकर "अपूर्णम्मन्यतारूप परिस्पन्द, अकर्मक अभिलाषामात्र (इच्छाशक्तिमात्र) ही होता है। यही भविष्य में होने वाले तत्त्वों व दशाओं की भेद की योग्यता भी बनता है। अतः द्रव्यरूपता वाला मल यह अज्ञान (अविद्या) नहीं होता।[1] अपितु यह परमेश्वर की स्वात्मा को ढकने की इच्छा के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु (द्रव्य) नहीं होता।[2] परमेश्वरेच्छारूप से ही पृथिव्यादि भूतों का भी वस्तुत्त्व सिद्ध होता है[3], न कि द्रव्यमात्ररूप से। यह अज्ञान (अविद्या) शक्ति की जो परमेश्वर को ढकने की स्वरूपता होती है, वह शरीरादि पदार्थ, जो आनात्मा होते हैं उनमें आत्माभिमानात्मक ज्ञान ही के रूप में ही सिद्ध होती है तथा यह ज्ञान ही अज्ञान (अविद्या) का मूल होकर बन्धन में डालता है।"[4]

इस इच्छात्मकरूप 'आणवमल' (अविद्या) अज्ञान के दो भेद स्वरूप के आधार पर भी आगम में कहे हैं, जैसे—विद्या (ज्ञान) के स्वातन्त्र्य की हानि होने से तथा अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान न होने से दो रूपों में यह आणवमल अपने स्वस्वरूप की हानि से होता है।[5]

इस स्थल पर आगमशास्त्र अज्ञान (अविद्या) की गहनता का ही कथन करते हुए उसकी द्रव्यात्मकता का भी निषेध ही सिद्ध करते हुए उसकी (अज्ञान, अविद्या की) इच्छात्मकता की ही पुष्टि व सिद्धि भी करता है।

---

1. अपूर्णतम्मन्यतांरूपः परिस्पन्दः अकर्मकम् अभिलाषमात्रमेव भविष्यदवच्छेदयोग्यतेति न मतः। —तं॰सा॰, भा॰ 2, पृ॰ 13
2. सोऽयं मलः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रच्छादनेच्छातः नान्यत् किञ्चित्। —तं॰सा॰, भा॰ 2, पृ॰ 15
3. वस्त्वपि च तत् परमेश्वरेच्छात्मनैव धरादेरपि वस्तुत्वात्। —तं॰सा॰, भा॰ 2, पृ॰ 15
4. यावत् अनात्मनि शरीरादौ आत्माभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव। —शि॰सू॰, वि॰, पृ॰ 13
5. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता। द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहामितः॥

क्योंकि 'अणु' के मूल स्वरूप में चिद् व अचिद्रूपी अवभास ही स्थित होते हैं।[1] इनमें यह 'अणु' चिदाभास से ऐश्वर्य को तथा अचिद्रूप से मल (अज्ञान, अविद्या) को उत्पन्न करता है।[2] इस स्थल से आगमशास्त्र यह स्पष्ट कर देता है कि "परमेश्वर की स्वात्मप्रच्छादन की इच्छा पूर्णस्वरूप में विकसित हो जाती है। तो अपने स्वाभाविक ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेती है तथा जब अचिद्रूप में ज्ञानक्रियाशक्ति की ओर प्रसार करती हुई संकोच ग्रहण करती है तो 'मल' कही जाती है। यही कारण होता है कि 'विज्ञान केवल' की अवस्था में भी यह इच्छात्मक आणव मल विद्यमान होने पर भी ध्वंस की ओर उन्मुख होने से अपने कार्य कर्मादि का आप्यायन (पुष्टि प्रवर्तन) नहीं करता।"[3]

इसी कारण अज्ञान या अविद्या की वेदान्तदर्शन में भी आवरण व विक्षेप नामक दो शक्तियाँ कही गई हैं। इन्हीं दो शक्तियों से वह संसार की रचना का कारण बनता है।[4]

अतः आगमों में भी प्रत्येक स्थल पर आवरणात्मकता का ही विस्तार देखने को मिलता है।

यह आणवमल द्विविध होने पर ही अन्य मायीमय व कार्ममलों को भी उत्पन्न या विकसित होने का अवकाश मिल जाता है। इन मायीय व कार्ममलों के लक्षण भी काश्मीर शैवागम के अज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने में आत्यावश्क कारण बनते हैं। अर्थात् "मायीमल भिन्न-भिन्न वेद्यों (विषयों) के विस्तार का कारण बनते हुए जन्म व भोग की उत्पत्ति भी करता है[5] तथा कर्ता की अबोध (अज्ञान) दशा में कार्ममल की स्थिति होती है।[6] वस्तुतः यह शरीरादि से होने वाले

1. अणुर्नाम किल चिदचिद्रूपावभास एव। —तं॰सा॰, भा॰ 2, पृ॰ 17
2. तस्य चिद्रूपमेश्वर्यमेव अचिद्रूपतेव मलः। —तं॰सा॰, भा॰ 2, पृ॰ 17
3. स च मलो विज्ञानकेवले विद्यमानो ध्वंसोन्मुख इति न स्वकार्यं कर्म आप्याययति। —तं॰सा॰, भा॰ 2, पृ॰ 15
4. एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः। याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्॥ —वि॰चू॰, श्लो॰ 146, पृ॰ 49
5. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्। —ई॰प्र॰, 3/2/5, पृ॰ 283
6. कर्तर्यबोधे प्रथने सति धर्माधर्मरूपं कार्मं मलम्। —ई॰प्र॰वि॰, 3/2/5, पृ॰ 283

धर्माधर्मादि कार्यों के रूप में ही प्रोता है।[1]

काश्मीर शैवागम में इस अज्ञान में त्रिविध (आणव, मायीय, मायीय, कार्म; रूप होने से भी मूल आणवरूपी अविद्यातमकमल का स्वस्प अन्य दोनों मलों से पृथक् भी स्वीकार किया जाता है। क्योंकि ईश्वर की (परमेश्वर की) इच्छा (शुद्धस्वातन्त्र्यशक्ति) से वशीभूत जो क्षुब्ध (चञ्चल) भोगलोलिका (भोगेच्छा) होती है, अघोरेश (अशुद्धमार्ग के कर्ता उसके अधिष्ठाता कर्ता बनकर चिद्‌गणों (मन्त्रमहेश्वरों) के रूप में अशुद्धअध्वा की सृष्टि का प्रवर्तन करते हैं।"[2]

यह इस काश्मीर शैवागम का सिद्धान्त पक्ष का कथन है।[3] जिसका प्रकाशन विवेककार ने किया है। अतः उनके अनुसार ही "यह 'भोगलोलिका' ईश्वर की शुद्धस्वातन्त्र्यशक्ति से प्रेरित अभिलाषात्मिका आणवमल ही होती है तथा कार्ममल की सहायता करने में उन्मुखी बनी रहती है।[4] इसीलिए आचायभिनवगुप्तपाद "अभिलाषात्मिका लोलिका नाम की इच्छा को स्वरूप में निष्कर्मा अभिलाषा कहकर विशेषत करते हैं और उसके लक्षण में अपूर्णम्मन्यता व अवच्छेदरहितता का भी स्पष्ट कथन करते है।[5] अतः "कार्ममल ही मुख्य रूप से संसार यद्यपि बनता है तदपि यह 'आणवमल' (अज्ञान) ही अशुद्धाध्वा रूपी सृष्टि का कारण ही कार्ममल का भी 'मूलकारण' सिद्ध होता है।[6] यहाँ काश्मीर शैवागम में इस अभिलाषात्मक 'आणवमल' के इच्छास्वरूपमात्र होने से इसके द्रव्यत्व व तत्त्वत्व के विषय पर भी पर्याप्त विस्तार से विचार प्रस्तुत किया है।

1. देहादिभिन्नवेद्ये प्रथने सति धर्माधर्मरूपं कार्मं मलम्। —ई॰प्र॰वि॰, 3/2/5, पृ॰ 284
2. ईश्वरोच्छावशक्षुब्धभोगलोकिकाचिद्‌गणान्।
   संविभक्तुमघोरेशः सृजतीह सितेतरम्॥ —तं॰आ॰, 9/61, पृ॰ 373
3. इह—अस्मद्‌दर्शने। —तं॰आ॰वि॰, 9/61, पृ॰ 374
4. कार्ममलस्य सहकारितायामुन्मुखी भोगलोलिका—
   अभिलाषात्मकमाणवं मलम्। —तं॰आ॰वि॰, 9/61, पृ॰ 374
5. अणूनां लोलिकानाम निष्कर्मा याभिलाषिता।
   अपूर्णम्मन्यताज्ञानं मलं साविच्छदोज्झिता॥ —तं॰आ॰, 9/62, पृ॰ 375
6. मायीयमलस्याङ्कुरकारणं कार्ममलं, तस्यापि कारणमाणवमिति॥
   —तं॰आ॰वि॰, 9/88, पृ॰ 399

क्योंकि यहाँ मल को आवरणं स्वीकृत करने पर उसमें पर द्रव्यत्व या तत्त्वत्व की कल्पना भी संभव प्रतीत होने लगती है; परन्तु वास्तव में आणव मल में मलत्त्व का स्वरूप यही होता है कि उसके (आणवमल) विद्यमान (अस्तित्व में) रहने पर ही उन–उन (कार्म मायीय) मलों के अवच्छेद (भेद) की पात्रता (भिन्नता के अधिकार का भाव) की योग्यता (सामर्थ्य, शक्ति) उत्पन्न हो जाती है।[1]" अर्थात् 'आणवमल' पदार्थों की भिन्नता का संग्रह (अवगम, ज्ञान, अवभास, आभास) करवाने मात्र में ही योग्यता को रखता है, यही इसका 'मलत्व' है।[2] अतः अपने स्वातन्त्र्यस्वरूप के ज्ञान की योग्यता (सामर्थ्य, शक्ति) को खो देना, भूल जाना या संकुचित बना लेना ही मल का मलत्त्व है, अज्ञान का अविद्यात्व है। इसी कारण यह 'मल' (अज्ञान) तत्त्व न होकर योग्यता (सामर्थ्य, चमत्कार) मात्र ही होता है। न तो यह अज्ञान (मल) भेद की कारक (आधापक) होती है, न ही कोई वस्तु सत्ता रूपमती होती है, केवल पदार्थों के भेदग्रहण मात्र की योग्यता ही इसमें अभिलाषात्मक रूप से रहती है जिसके कारण "यह परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के योग से अनन्तशक्तियों का चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ है।[3] काश्मीर शैवागम में शक्ति पद की परिभाषा कल्पित किया जाता है, वही शक्ति तत्त्व कहलाता है।[4]

यही कारण होता है कि शक्ति व शक्तिमान की कल्पना किए जाने पर भी उनमें अभेद ही सिद्ध होता है, न कि भेद।[5]" कहा भी गया है कि "पदार्थों में फ़ल के भेद होने से जो उनमें भेदबुद्धि का आरोप किया जाता है, वही (पदार्थत्व, पदार्थात्मा) शक्ति कहलाता है।[6]

---

1. योग्यतामात्रमेवैतद् भाव्यवच्छेद्संग्रहे। —तं॰आ॰, 9/63, पृ॰ 377
2. योगयतामात्रमिति–साक्षादवच्छेदाधायित्वाभावेन अस्य–मलस्य।
   —तं॰आ॰वि॰, 9/63, पृ॰ 377
3. तच्छक्तियोगितैवास्यानन्तशक्तित्वम्। —तदेव, 1/68, पृ॰ 199
4. शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
   तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने॥ —तं॰आ॰, 1/69, पृ॰ 120
5. अतः शक्तिशक्तिमत्परिकल्पनेऽपि क्रियमाणे,
   स एवअद्वयमयो विभुः न काचिदद्वयखण्डना इति यावत्। —तदेव, 1/69, पृ॰ 120
6. फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः। —तं॰आ॰वि॰, 9/68, पृ॰ 384

यहाँ शक्ति व शक्तिमान् की अभेदसिद्ध के आरोपित (कल्पित) होने से सिद्ध होती है। परन्तु जो फलभेद उत्पन्न करने वाली शक्तियों में परस्पर पदार्थ रूपों में जो भेद रहता है तो उसका स्वरूप कैसे निर्धारित किया जा सकेगा। अर्थात् परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति अभिन्न रहकर आणवमल के रूप में फलभेद से (संकोच) भिन्नता का चमत्कार पैदा करती है और वही (अज्ञान, अभिलाषा) शक्ति पुनः मायीय व कार्म मलों के रूप में फलभेदों के कारण स्वतः भिन्न-भिन्न हो जाती है तो उनमें तो मूलतः भेद रहना ही चाहिए तथा वह स्वरूप से ही बना रहेगा। ऐसी शङ्का का समाधान भी काश्मीर आगम इस प्रकार से करता है कि "दिव्य विभु के द्वारा कल्पित प्रमाता (अघोरेशादि) शरीर में भी कल्पनानुसार कोई भेद नहीं होता। क्योंकि अग्नि की दाहिका व पचिका धर्मों (शक्तियों) में पृथकता होने पर भी कोई भेद नहीं होता।"[1] "फल भेद से 'दाहिका' 'पाचिका' शक्तियों की भिन्नता कल्पित होने पर भी वस्तुतः शक्तिमान् के साथ एक स्वभाववाली होने पर परस्पर के (दाहक पायक) स्वरूप को भिन्न सिद्ध में समर्थ नहीं होती।[2] क्योंकि "पृथक् सिद्ध वस्तु ही दूसरी वस्तु से अपने को भिन्न सिद्ध करती है, परन्तु शक्ति की शक्तिमान् से पृथक् सिद्धि कभी भी नहीं होती। अतः क्या किससे भिन्न होगा? क्योंकि परमेश्वर ने ही अग्नि का दाहादि स्वरूप परिकल्पित किया है।"[3] यही कारण होता है कि "परमेश्वर के द्वारा परिकल्पित अनन्त शक्तियों के होने पर भी उनमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं होता तथा न ही कभी ईश्वराद्वयवाद की ही हानि भी होती है।[4] अतः अविद्यात्मक 'आणवमल' इच्छात्मक ही सिद्ध होता है न कि द्रव्यात्मक या तत्त्वात्मक।

---

1. को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव। —तं॰आ॰, 1/70, पृ॰ 120
2. यथा वह्नेः दाहपाकादिफलभेदाद् दाहिका पाचिका च शक्तिर्भेदेन कल्पितापि, वस्तुतः शक्तिमदेकस्वभावत्वान्न परस्परस्य स्वरूपं भेत्तुमलम्। —तं॰आ॰वि॰, 1/70, पृ॰ 121
3. पृथग्सिद्धं हि वस्तु वस्त्वन्तरं भिनत्ति, न हि शक्तेः शक्तिमदतिरेकेण पृथक्सिद्धिरेवास्ति इति किं केन भेद्यमः वह्नेरेव हि दाहादिसमर्थं स्वरूप तथा परिकल्पितम्। —तं॰आ॰पि॰, 1/70, पृ॰ 121
4. एं परमेश्वरस्य परिकल्पितेऽपि शक्तिनामनन्त्ये न कश्चिद्भेद इतिन कदाचिदीश्वराद्वयवादक्षतिः। —तं॰आ॰पि॰, 1/70, पृ॰ 121

काश्मीर शैवागम में इस 'आणवमल' के ही अपर पर्याय भी "अभिलाषादि कहे गए है।[1] उनमें ही 'मायाशक्ति' द्वारा भी आणवमल का पर्याय कहा गया है। इसी के साथ ही अन्यान्य शास्त्रों में जो तत्समकक्ष पद प्राप्त होने हैं उनके भी उचितार्थ ग्रहण करके तर्कणा करनी चाहिए।[2] इससे यह स्वष्ट ही हो जाता है कि आणवमत के स्वरूप या अपरशब्दों में अज्ञान के आगमिकस्वरूप की विस्तार से व्याख्या करने के लिए ही आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने 'मायाशक्ति' पद का ग्रहण मल या अज्ञान के पर्यावाची शब्दों में किया है।

"अणु का अणुत्व भी प्रकाशात्मा महेश्वर के बिना सिद्ध नहीं किया जा सकता। तदापि वह चिदचिद्रूप, पुदगल, क्षेत्रवित् एवं पशु इन चार कारणों से ही पृथक् प्रतीत होता है।[3]

इन चार विशेषणों पर विचार करने पर "अणु में चिद् व अचिद्रूपता का अनभास रहता है"[4] तथा पृथकता की बुद्धि से अत्यन्त कठिनाई से गलित होने के कारण पुद्गल कहलाता है।"[5] शरीर को ही आत्मा के रूप में स्वीकार करने के कारण, जोकि कर्मबीज की उत्पत्ति का स्थल होता है, क्षेत्र कहलाता हैं,[6] इन तीनों दशाओं के उत्पन्न होने के फल स्वरूप जब अणु स्वयं को अनात्मा (शरीरादि) के अभिमान से पाशित (बाँध देना) कर लेता है, तो पशु कहलाता है,[7] "यह अनतिरिक्त मल स्वरूप अभिलाषा की तरह जो भासित होता है उसका निराकरण (बोध) भी ईश्वरेच्छा से ही संभव होता है।"[8] यही अणुत्व या अज्ञान का

1. मलोऽभिलाषः। —तं॰आ॰, 9/84, 9, पृ॰ 397
2. शेषास्तु सुगमरूपाः शब्दास्तत्रार्थमूध्येदुचितम्। —तं॰आ॰, 9/88, पृ॰ 398
3. अणवो नाम नैवान्यत्प्रकाशात्मा महेश्वरः।
   चिदचिद्रेपताभासी पुद्गलःक्षेत्रवित्पशुः। —तं॰आ॰, 9/144, पृ॰ 446
4. स्वात्मनि चिदधिूपतामवभासयन्। —तं॰आ॰वि॰, 9/44, पृ॰ 447
5. परताबुद्धया क्लेशेन च गलतीति पुद्गलः। —तं॰आ॰वि॰, 9/44, पृ॰ 447
6. कर्मबीजप्ररोहावहं क्षेत्रम्। —तं,आ॰वि॰, 9/44, पृ॰ 447
7. शरीरमेवात्मत्वेन जानानः पाश्यत्वात् पशुरित्युच्यते। —तं॰आ॰वि॰, 9/44, पृ॰ 447
8. तेषामणूनां स मल ईश्वरेच्छावशाद् भृशम्।
   प्रबुध्यते...। —तं॰आ॰ 9/147, पृ॰ 449

नाश करने वाली "इच्छा हो भोगेच्छा के रूप में भी उत्पन्न होती है"[1] इसी से माया स्वरूप (अज्ञान) र्निमत होता है।"[2]

अभिलाषात्मिका शक्ति ही मायात्मिका भेदावभाससत्मिका स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में प्रकट होकर विश्वनिर्माण करती है, यही इस वर्णन से सिद्ध हो जाता है।

"जब तब यह माया शक्ति पूर्वोक्त ईश्वरेच्छा के अभिलाषात्मक रूप से अविभागमययी बनी रहती है तब तक हो यह महतीमाया या परानिशा भी कही जाती है।"[3]

"इसी महामायरूपिणी अविभक्तशक्ति में ही भावी विश्व के पदार्थों का अवभास, मटर की फली की भान्ति अनेक बीजों के रूप में विद्यमान रहता है।"[4]

इसी 'माया' या 'अज्ञान' के व्यतिरिक्त व अव्यतिरिक्त स्वरूप में आभासित होने के कारण ही शैवागम में "इसके (माया के) तीन प्रकारों (ग्रन्थि, तत्त्व व शक्ति) का निरुपण किया गया है।"[5]

"यही महामाया अन्यत्र षट्पुटा भी कही गई है।"[6]

इसके विशेष शुद्ध स्वरूप का व्याख्यान आगम में "मायाबिल तथा गुहा के रूप में भी किया गया है",[7] इस कारण यह दोनों (तत्त्व व ग्रन्थि) रूपों वाली माया (अज्ञान) हो संसार की योनि (कारण) भी कहलाती है।"[8]

---

1. ईश्वरोच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते। —तं॰आ॰, 9/148, पृ॰ 450
2. मायां विक्षोभ्य संसारर्निममीते विचित्रकम्। —तं॰आ॰, 9/149
3. विभागमप्राप्तोऽतएव आद्यो यो भेदावभासः
   सा परानिशा–महती मायेत्यर्थः। —तं॰आ॰वि॰, 9/150, पृ॰ 451
4. अतएव बहिर्मुखतायां भाविनो विभासस्य शिम्बिकाफलवत्।
   —तं॰आ॰वि॰, 9/150, पृ॰ 451
5. इदानीं ग्रन्थितन्नवशक्त्यात्मना त्रिप्रकारं मायायाः स्वरूपं निरूपयति।
   —तं॰आ॰वि॰, 8/298, पृ॰ 217
6. महामाया षट्पुट संव्यवस्थिता। —तदेव, 8/320, पृ॰ 230
7. मायाबिलमिदमुक्तं परतस्तु गुहा जगद्योनिः। —तं॰आ॰, 8/308, पृ॰ 222
8. तेन ग्रन्थितत्त्वरूपतया द्विधापि माया जगद्योनिरिति सम्बन्धः। —तं॰आ॰वि॰, पृ॰ 222

योनि (कारण) के ही अपरपर्याय पद का व्याख्यान भी आचार्य ने माया (अज्ञान) के स्वरूप विस्तार की दृष्टि से स्पष्ट किया है कि पति की शक्ति (अभिलाषा) के क्षोभ से जो तदानुकूल योनिविवरों में भी जो गति उत्पन्न होती है उसी की संज्ञा भाग कहलाती है।[1]

इसी प्रकार से यह ग्रन्थि तत्त्व शक्ति रूपिणी माया त्रिपुटिका होने से अनन्तकोटि भगबिलों से परिवेष्टिता ही बनी रहती है।[2] ये तीन (ग्रन्थि), तत्त्व (शक्ति) भी इसके (माया) मुख्य पुट कहे जाते हैं अन्यथा पुटों की अनेकता भी शास्त्र में आगे वणत की गई है।"[3] जैसे ग्रन्थिरूपिणी माया (अज्ञान) में भगबिल, मायबिल, गुहा, योनि इत्यादि पर्यायों का कथन भी किया जाता है। इसे ही आचार्य ने "माया के सूक्ष्म पटल या भित्तियाँ (दीवारें) कहकर भी प्रकट किया है।"[4] और साथ ही यह भी स्पष्ट कर किया है कि न केवल सामान्यजनों अपितु सिद्धपुरुषों की वादियाँ भी योनियों होतीं हैं।[5] अर्थात् वे (सिद्ध) भी उनका वर्णन नहीं कर सकते।

इसीलिए "माया (अज्ञान) को गहन, अरूप 'समस्वविलयपद न विभु' भी कहा है।[6] यही माया (अज्ञान) का अक्षुब्धपरूप (दिव्यरूप) भी कहा जाता है।[7] तथा "माया का ग्रन्थि नामक स्वरूप माया का कार्य है तथा वहीं से भेदात्मिका माया का आरम्भ होता है।[8]

---

1. पतिक्षोभमनुविधीयमानेषु योनिविवरेषु नानाकामसमृद्धेषु भगसंज्ञा।
—तं॰आ॰, 8/308–9, पृ॰ 223
2. ततो माया त्रिपुटिका मुख्यतोऽनन्तकोटिभिः
आक्रान्ता सा भगबिलैः॥ —तं॰आ॰, 8/298–99, पृ॰ 217
3. मुख्यत इति, अन्यथा हि अस्या वक्ष्यमाणदृशा पुटानानैक्यम्।
—तं॰आ॰वि॰, 8/300, पृ॰ 218
4. मायापटलैः सूक्ष्मैः कुड्यैः पिहिताः....। —तं॰अ॰, 8/312, पृ॰ 224
5. अपि सर्वसिद्धवाचः क्षीयेरन्.....योऽस्यानन्त्यादुच्यन्ते स्रोतसां संख्याः।
—तं॰आ॰, 8/314
6. मायातत्त्वं विभुकिल गहनरूपं समस्तविलयदम्। —तं॰आ॰, 8/322, पृ॰ 230
7. तस्य पुनरक्षुब्धमेव रूपम्। —तं॰आ॰वि॰, 8/321, पृ॰ 230
8. ग्रन्थ्याख्यमिदं तत्त्वं मायाकार्यं ततो माया। —तं॰आ॰, 8/321

अतः अविद्यात्मिका माया का ग्रन्थि स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने से समस्त विश्व को सुक्ष्मरूप में ही स्वयं में स्थित रखता है।[1]

इस अक्षुब्ध माया (अज्ञान) रूपके पश्चात् ही तत्त्वरूपिणीमाया का अविर्भाव होता है। क्योंकि यह जन्म की ओर उन्मुख हो जाता है जिससे विषमता की प्रसूति होने लगती है, तभी यह पूर्वोक्ता ग्रन्थिरूपिणी माया तत्त्वरूपिणी बन जाती है।[2]

इस स्वरूप में इस ईश्वरेच्छारूपिणी अभिलाषा का अवतरण मायातत्त्व के अधिपति के अधिष्ठान के रूप में अनन्वेश के द्वारा होता है।"[3] वे अनन्वेश युगपत् (एक साथ ही) अणुओं व निशा (माया तत्त्व) को क्षोभित कर देते हैं।[4] इस प्रकार से क्षुभित हुई वह निशा (माया, अज्ञान) अपने अनन्त सम्पुटों से पदार्थों की रचना करती है।[5] यहाँ कार्य की अनन्तता होने पर भी कारण की एकात्मकता ही बनी रहती है। इसीलिए 'कला से लेकरर धरा तक के अखिलआवरण रूपी जालों का अनन्त प्रकारों से निर्माण करने पर वह माया एक व अभिन्न ही बनी रहती है।[6]

अतः आगमिक अज्ञान अविद्या या आणवमल ही उक्त माया की त्रिपुटी रूप से ही उपता बहिरुल्लास प्रथाशित करता है इस त्रिपुटी का मुख्य रूप से अन्तिम पुट शक्तिरूपमाया कहा गया है। इसके उत्तरोत्तर शक्तिरूपों की अवस्थाओं से अनेक प्रकार के आवरणों का निर्माण भी हो जाता है। इसका विस्तृत वर्णन तन्त्रालोक के अष्टमाह्निक तीन सौ बत्तीस श्लोक से लेकर आह्निक के अन्त तक किया गया है।

---

1. सूक्ष्मेण क्रमेणात्र विश्वस्यावस्थानात्। —तं॰आ॰वि॰, 8/322, पृ॰ 203
2. ग्रन्थ्याख्यमिदं तत्त्वं मायाकार्यं ततो माया। —तं॰आ॰, 8/321, पृ॰ 230
3. मायातत्त्वाधिपतिः सोऽनन्तः। —तं॰आ॰, 8/322, पृ॰ 231
4. सोऽनन्तः समुदिवान्विचार्याणून् युगपत्क्षोभयति निशां..... ॥ —तं॰आ॰, 8/322, पृ॰ 231
5. सा सूते संपुटैरनन्तैः स्वैः ॥ —तं॰आ॰ 8/322, पृ॰ 231
6. तेन कलादिधरान्तं यदुक्तमायाजालमखिलं तत्।
   निःसंख्यं च विचित्रं मायैवैका त्वभिन्नेयम्॥ —तं॰आ॰, 8/324

उसके अनुसार रूपावरण, सूक्ष्मावरण, शुद्धवरण विद्यावरण, प्रमाणावरण शक्त्यावरण, बुद्धावरण, समयावरण सौशवावरण, बिन्द्वावरण, अधैन्द्वावरण आदि लगभग अट्ठारह आवरणों का वर्णन किया गया है। ये सभी आवरण माया तत्त्व के शक्तिपुट का ही मुख्यरूप से वर्णन करते हैं। अतः माया (अज्ञान) का त्रिपुटी युक्त वर्णन आगमशास्त्रों में प्राप्त होता है। यह अविद्यात्मिका मायाशक्ति ही तत्त्वरूप से भी शक्ति के द्वारा अपनाप्रकाशन इस विश्वरूप में करती है। क्योंकि इस परमेश्वरदर्शन (त्रिकदर्शन, आगमशास्त्र) में 'तत्त्व' उसी को कहा जाता है कि जो एक ही स्वरूप अव्यभिचार से (बिना बदले हुए) अनेक भुवनादि पदार्थों में अनुगामी बने।[1]

इसलिए "पृथिवी आदि पदार्थों के भाव को भी 'तत्त्व' कहा जाता है।[2] क्योंकि यह भाव ही पदार्थ के नामकरण का निमित बनता है, इसलिए तत्त्व कहा जाता है।[3]

अतः ये सभी तत्त्व (षट्त्रिंशत-तत्त्व भूम्यादि) शिव के स्वातन्त्र्यरस से ही भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होते हैं।[4] इसी भ्रम से यह तत्त्वों का अवभास पृथिवी से लेकर शिवादि तत्त्वों तक व्याप्ति व तनन के फैलने के कारण तत्त्व कहलाते हैं।[5]

इसी दृष्टि से आगमिक विद्वानों ने "महाप्रलय तक स्थित रहने वाला तथा स्त्री प्राणियों के द्वारा तत्त्व कहा जाता है, न कि केवल शरीर या घटादि पदार्थ तत्त्व कहलाते हैं।[6]

---

1. इदं हि नाम पारमेश्वरे दर्शने 'तत्त्वम्' इत्युच्यते-यदेकमेव रूपमव्यभिचारेण अनेकत्र भुवनादावनुगातिम स्यात्। —तं॰आ॰वि॰, 9/1, पृ॰ 296
2. पृथिव्यादेर्भाव तत्त्वं। —तं॰आ॰वि॰, 9/1, पृ॰ 296
3. तथा व्यपदेशनिमित्तमित्युक्तम्। —तं॰आ॰वि॰, 9/1, पृ॰ 296
4. तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद् भेदे विभाते। —तं॰आ॰, 9/2, पृ॰ 297
5. आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तृभावतः।
   तत्तत्त्वंक्रमशः पृथ्वीप्रधानं पुंशिवादयः॥ —तं॰आ॰, 9/5, पृ॰ 300
6. आमहाप्रलयस्थायि सर्वप्राण्युपभोगकृत्।
   तत्त्वमित्युच्यते तज्ज्ञैर्न शरीरघटाद्यतः॥ —तं॰आ॰,वि॰, 9/5, पृ॰ 301

आगम प्रमाण से इसकी (तत्त्व की) सिद्धि करते हुए कहते हैं "तत्त्व वह वस्तुरूप सत्य होता है जो स्वधर्म को प्रकट करता है तथा वह आम्नाय (शास्त्रों, निगमागम) में भी स्फुटरूप से प्रकाशित किया है।[1] अर्थात् सभी शास्त्र भी उसका वर्णन करते हैं। इसी के साथ "साथ "वह (तत्त्व) अपने वृत्त (धर्म) से अच्युत होता है, अपने वश में ही जगत् को रखता तथा उसी से (तत्त्वसे) ही उसका (जगत् का) विस्तार करता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं, ऐसा पदार्थ हो तत्त्व समुदाय में 'तत्त्व कहा जाता है।[2]

इस प्रकार से यह अभिन्नात्मिका माया (अज्ञान) ही अपने तृतीय पुट 'शक्ति' से हो स्वात्मा में भेद को प्राप्त करके तत्त्वभाव को प्राप्त करती है तथा उसी के साथ कलादि (पञ्च कञ्चुकों) का भी तत्त्वभाव से विस्तार हो जाता है।[3] आगमों में कहा भी गया है कि उस परमेश्वर की शक्तियाँ ही सम्पूर्ण जगत् होता है।[4] अतः माया की तृतीय पुटी ही मायाशक्ति रूप में विकसित होकर समस्त संसार की रचना का निमित्त व उपादान कारण भी बन जाती है।[5]

"यह मायाशक्ति ही, जोकि परमेश्वर की अभिन्न शक्ति कही जाती है, जब अधोगमन (अशुद्धाध्व की ओर गमन) करती हुई किंचित् कर्तृत्व से युक्त होती है तो वह क्षेप्त्री कला कही जाती है।[6] क्योंकि यह कला शक्ति ही अन्य तत्त्वों के अवतरण का भी कारण बन जाती है, इसीलिए इसे क्षेप्त्री भी जाता है।

---

1. तत्त्वं यद्वस्तुरूपं स्यात्स्वधर्मप्रकटात्मकम्।
   तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शात्॥ —तं॰आ॰वि॰, 9/6
2. यदच्युतं स्वकाद् वृत्तात्ततं चात्मवशं जगत्।
   ततमन्येन वा न स्यात्ततत्त्वं तत्त्वसंततौ। —तं॰आ॰वि॰, पृ॰ 302
3. यथा च माया देवस्य शक्तिरभ्येति भेदिनम्।
   तत्त्वभावं तथान्योऽपि कलादितत्त्वविस्तरः॥ —तं॰आ॰, 9/154-55, पृ॰ 458
4. शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नम्। —तं॰आ॰वि॰, 9/153
5. उपादानं स्मृता माया। —तं॰आ॰, 9/158, पृ॰ 459
6. किंचित्कर्तृतोद्दलनात्मिका। नाथस्य शक्तिः साधस्तात्पुसः क्षेप्त्री कलोच्यते॥
   —तं॰आ॰, 9/155-156, पृ॰ 458

"यहाँ अध्स्तात् या अधोगमन का अर्थ प्राणादि प्रमाताओ के रूप में ही ग्रहण किया जाता है।[1] अतः कला शब्द के प्रयोग का निमित्त कारण यह अध प्रक्षेप ही होता है।"[2]

इस मायाशक्ति द्वारा कला के रूप में परिर्वतत होने पर अणु (आणावमल) कला का तथा आणवमल का परस्पर आलिङ्गन करते हैं, यही कला तत्त्व का प्रसव होता है, जोकि माया द्वारा प्रसूत है।[3]

वस्तुतः "कला माया व अणु के संयोग से ही उत्पन्न होती है तदपि वह अणु (संकुचित प्रमाता) र्निवकार ही रहता है तथा विकारिणी माया को ही उपादान कारण बनाता है।[4] क्योंकि "उपादान कारण अपने स्वस्प के विकारभाव को प्राप्त करके कार्य का अनुसरण करता है, जैसे मृत्तिका घड़े का।[5] परन्तु आगमों में आणवमायीय व कार्य इस त्रिविधमल को ही सांसार का कारण कहा है तो केवल माया ही उपादान कारण कैसे सिद्ध की जा सकती है? इसके उत्तर में आचार्यपाद का कथन है कि "मल आवश्यक होता है, माया भावोपादान कारण तथा कर्म (कार्ममल) सुखदुःख के प्रति सहकारी कारण होते हैं।[6]

यहाँ मल (त्रिर्विध आणव मायीय कार्म) केवल ज्ञान व क्रियाशक्ति को ढकने का कार्य ही करता है। इतना मात्र ही इसका कार्य नियत होता है। अतः आगमिक 'अज्ञान' भी केवल स्वरूपाच्छादन का ही कार्य करती है, यह सिद्ध हो जाता है, यही कारण होता है कि "इस आच्छादन रूपी कर्म के कारण ही यह मल कला, जोकि किंचित्कर्तृवयुक्त

1. अधस्तादिति प्राणादिप्रमातृतायाम्। —तं॰आ॰, 9/144, पृ॰ 459
2. कला शब्दस्य च अत्र प्रवृत्तावधः प्रक्षेप एवनिमित्तम्। —तं॰आ॰, 9/155
3. कला हि किंचित्कर्तृत्वं सूते स्वालिङ्गनादणोः।
   तस्याश्चाप्यगुनान्योऽयं ह्यञ्जने सा प्रसूयते॥ —तं॰आ॰, 9/176, पृ॰ 479
4. कला मायाणुसंयोगजाप्येषा र्निवकारकम्।
   नाणुंकुर्यादुपादानं किंतु मायां विकारिणीम्। —तं॰आ॰, 9/179, पृ॰ 482
5. उपादानकारणं हि स्वरूपविकारमासाद्य
   कार्यानुगामित्वेन वर्तते, यथा घटादौ मृत्। —तं॰आ॰वि॰, 9/176
6. मलश्चावरको माया भावोपादानकारणम्।
   कर्मस्थान् सहकार्येव सुखदुःखोद्भवं प्रति॥ —तं॰आ॰, 9/180, पृ॰ 483

उत्तेजना से मुक्त होती है, कि उत्पत्ति का कारण नहीं बनता।[1] जबकि माया ही कलादि भूम्यन्त तत्त्वों की उपादान कारण बनती है।[2] इस प्रकार से इस अविद्यात्मक आणवमल को त्रिविधकञ्चुकबन्ध कहकर भी आगमों ने परिभाषित किया है।

आणमल आपरण से (आवरणवाले से) अणु (संकुचित जीव) का प्रथम कञ्चुक ईश, द्वितीय कञ्चुक उसकी (अणु) मलधिष्ठायिका निरोधशक्ति तथा तृतीय कञ्चुक कर्मों की अवस्थिति का स्थान माया (गृह्य) होती है[3] इन तीनों अज्ञान के कञ्चुकों में विरोधशक्ति व मायाशक्ति के द्वारा ही यह त्रिविधमल घटित होते हैं।[4] इस विषय में आगम का प्रमाण भी आचार्य जयरथ ने प्रस्तुत किया है कि सहज महान् तमस् से अविद्ध वाले पुरुष का परमेश्वर व गुहा (माया) से तीन प्रकार के कञ्चुक प्रवृत्त हाते हैं।[5] यही चैतन्य की कला की सामर्थ्य इन त्रिविध कञ्चुकों के योग से ही होती है। इस चैतन्य की यह अविद्यात्मिका अवस्था ही आचार्य अभिनवपाद ने द्वितीय चित्ति कहकर परिभाषित की है।

इसी द्वितीय चित्ति (त्रिविध कञ्चुकों से ढकी स्थिति) ही पशु (आणु) के उपभोग की कारण बनती है। "यह समस्त त्रिगुण कञ्चुक के बल से अज्ञान द्वारा चैतन्य मलिन हो जाता है तथा यही शास्त्रों में सर्मथत भी किया गया है।"

"इन त्रिविध कञ्चुकों (ईश, शक्ति, माया) के साथ कला, विद्या व राग इन तीनों का भी योग स्वीकार किया जाता है।"

---

1. अतश्चैतावतैव उपक्षीणसामर्थ्योऽयं कथमिव
किंचित्कर्तृत्वोत्तेजनामयीं तद्विरुद्धां कलामपि जनयेत्। —तं॰आ॰, वि॰ 9/180
2. कलादिक्षित्यन्नानां भावानामुपादानकारणं मायेति विभागः॥ —तं॰आ॰, वि॰ 9/180
3. एवमाणवमलावरण — व तोऽपि अणोः ईशः, तदीया मलाधिष्ठायिका
निरोधशक्तिः, गुहा कर्मणोऽवस्थितिस्थानं माया। —तं॰आ॰, 9/207, पृ॰ 516
4. ताभ्यां सह त्रिविधो मलः ईशशक्तिमायाख्यः
प्रावरणप्रायत्वात् कञ्चुकरूपो बन्धः। —तं॰आ॰, 9/207, पृ॰ 516
5. एवं महतो तमसा सहजेनाविद्धचेतसः पुंसः।
परमेश्वराद् गुहातःप्रवर्तते कञ्चुकस्त्रिविधः॥ —तं॰आ॰, 9/207, पृ॰ 516

इस प्रकरण में आणवमल ही (अज्ञान) के द्वारा उपलक्षित ईशाशक्ति व माया इन दोनों के द्वारा व क्रिया का आच्छादन ही होता है। इस वर्णन में आचार्य अभिनवपवाद ने "मलों को कम्बुक (सीपी) की तरह तथा कलादि (कञ्चुक) चावल पर भूसी (तुष) की तरह ही स्वीकार किया है।

• अज्ञानात्मक मल

यहाँ अविद्यात्कमल को (आणवमल) कम्बुकवत् कहने का अभिप्राय यही है कि वह अत्यन्त आन्तरिक अन्तस्तल में ही स्थित होता है। इस विषय में आगम का प्रमाण भी आचार्य ने प्रस्तुत किया है कि "पुद्गल (अणु संकुचित चैतन्य के अन्तः (आन्तरिक ने स्थान पर) मल कम्बुक की तरह रहता है तथा तुषवत् (बाह्म आन्तरिक स्थान पर) कञ्चुक होते हैं।" इस प्रकार से अन्तस्तल में सीपी की भान्ति आणरव (अज्ञान) मल से ढका रहने पर भी चैतन्य के षट्कञ्चुक स्वयं में पृथक्-पृथक् आवरणमात्र ही होते है। यही कारण है कि इन्हें (ईश, शक्ति, माया, कला, विद्या पग) तुषवत् कहा गया है। यह षट्कञ्चुकों से युक्त अविद्यात्मिका (आणवमल) की त्रिपुटी (ग्रन्थि तत्त्व, शक्ति) रुपिणीमाया ही शक्ति रूपी पुट से धरादिपर्यन्त अपना विस्तार प्रकट करती है। अतः आगमिक सिद्धान्त में "यह अज्ञान आणवमल) ही अपने उत्तर-उत्तर रूप में शक्तिरूप से व्यावय बनकर तत्त्वों की रचना का कारण बनती है तथा इसके पूर्व- पूर्वरूप ही व्यापक बनकर चैतन्यधर्म के तारतम्य से शक्तिमान् रूप में सिद्ध होते जाते हैं। जैसे धरा शक्तिरूप होती है, तो जल तत्त्व शक्तिमान् रूप हो जाता है। इसी कुम से "धरामुक्त जलतत्त्व शक्ति व उसका मूल तेजतत्त्व शक्तिमान् बन जाता हैं।" यही परम्परा "शक्तितत्त्व की शक्मितत्ता तथा शिव तत्त्व की शक्तिमानता में ही पर्यवसित होती है।" इसी दृष्टि से आगम्मों में भी कहा गया है कि "यह शिवनाथ की शक्ति पैंतीस तत्त्वों इस शक्तिरूपिणी माया को ही आचार्य अभित्व ने जन्तुविमोहिनी तथा अतिदूर्घटकारिणी शक्ति कहकर उसकी अनिर्वचनीयवा का ही उद्घोष किया है।

इसी अकारण परिपन्थीरूपिणी (शुगुरूपिणी) अज्ञान (माया, मन) के द्वारा भ्रमितबुद्धि वाले मनुष्य 'यह तत्त्व है, यह नहीं है, ऐसे विवादों में ढकेल दिए जाते हैं।

इस "अविद्यात्मिका मायाशक्ति से बचने का एकमात्र मार्ग गुरु, देवता अग्नि व शास्त्र ही आचार्य ने बतलाए हैं। जो इनके भक्त नहीं होते,वे अधम नर होते हैं। ऐसे मनुष्यों को ही माया (अज्ञान) उत्पथ (बुरे मार्ग) पर निश्चितरूप से ले जाती है।

इसी के कारण "ये नराधम मिथ्या तर्क व विचार से ग्रसित रहते हैं तथा केवल शुद्ध (खोखल) तर्क के आधार पर ही हठवादी बने रहते हैं। ऐसे जनों को ही यह माया (अज्ञान, आणवमल) अमोक्ष (बन्धन में) में ही मोक्ष (स्वतन्त्रता) की लिप्सा से घुमाती रहती है।"

अज्ञान को द्विविध अर्थों की सिद्धि सर्वागम सर्वस्व सार स्वरूप शिवसूत्रों के माध्यम से भी आचार्य ने की है।[1] इन दो सूत्रों में"ज्ञान भी बन्ध तथा अज्ञान भी बन्ध होता है, यही अर्थ अकार के श्लेष व विश्लेष से भी प्रकट किया गया है।[2]

इस आगमिक दृष्टिकोण से "क्रिया या करणमात्र का कथन ही द्वैत कहा जाता है।[3] अतः वही द्वैत अज्ञान के प्रकरण में पौरुष व बौद्ध अज्ञान बनकर आगमों में विवेचित किया गया है। क्योंकि द्वैतप्रथात्मक ज्ञान भी बन्धन ही बन जाता है, तथा अज्ञान अपूर्णज्ञान होने से ही बन्धन कहलाता है। अतः 'ज्ञान' द्वैतज्ञान व 'अज्ञान' अपूर्णज्ञान ही कहलाता है।

"ज्ञान व अज्ञान पौरुष व बौद्ध इन दो प्रकार के भेदों से मुक्त होकर प्रत्येक दो-दो प्रकार के हो जाते हैं।[4] जैसे पौरुष ज्ञान, पौरुष अज्ञान, बौद्धज्ञान व बौद्ध अज्ञान। ये चारों प्रकार ही अज्ञान (आणवमल)

---

1. ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्॥ —तं॰आ॰, 1/26, पृ॰ 68
2. अकारप्रश्लेषविश्लेषाभ्यां, तेन ज्ञानं बन्धः इति चायमर्थः। —तं॰आ॰वि॰, 1/27, पृ॰ 69
3. क्रियां वा करणं च वा।.....द्वैतमुच्यते॥ —तं॰आ॰, 1/29
4. नानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः। द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने॥ —तं॰आ॰, 1/36, पृ॰ 84

के भी कहे जा सकते हैं। इस ज्ञान व अज्ञान की प्रकार भेद विवेचन में सर्वप्रथम अज्ञान के स्वरूप को ही पौरुष व बौद्धिक स्तरों पर स्पष्ट कर दिया जाता है, जिससे ज्ञान के स्वरूप का अवगम सरल हो जाता है,। यही क्रम आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी तन्त्रालोक में स्वीकार किया है। "यह पौरुष अज्ञान ही मल भी कहलाता है।[1] और इसी पौरुष अज्ञान (आणवमल, अज्ञान) से ही स्वरूप की पूर्णचेतना व क्रियारूपी स्वरूप का आवरणात्मक अज्ञान भी कञ्चुकादिरूपों में उत्पन्न होता है।[2]

"यह आणवमल के आविर्भारूपिणी अख्याति ही स्वस्वात्मरूप को ढक लेती है।[3] पशु दशा में अर्थात् अणुरूपी संकोचावस्था में यह आच्छादित पौरुष अज्ञान बन जाता है।[4] इसलिए इस पशु (अणु) ज्ञान को अविकसित अज्ञान भी कहा जाता है।[5]

"यह पौरुष अज्ञान बुद्धि का अंश भी नहीं होता, क्योंकि इसमें अध्यवसायादि का अभाव ही होता है।[6]

पौरुष एवं बौद्ध-अज्ञान के स्वप्न को निम्न प्रक्रिया द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि "मैं इस प्रकार से इसे जानता हूँ" इस अध्यवसाय वाली बुद्धि छः कञ्चुकियों (ईश, शक्ति) में प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही जब उत्पन्न होती है, तभी वह वस्तुरूपी अवगति का ज्ञान भी वास्तव में बौद्धिक ज्ञान होने से अज्ञान ही कहा जाता है।[7]

---

1. तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यम्.....। —तं॰आ॰, 1/37, पृ॰ 84
2. तज्जमप्यथ स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरुणात्मकम्। संकोचिद्वक्क्रियारूपं। —तं॰आ॰, 1/37-38
3. अख्यात्मात्मकमाणवमलाविर्भावेन स्वात्मानावृणुयात्। —तं॰आ॰, 1/37, पृ॰ 85
4. नियतद्वक्क्रियास्वाभासालोचनात्मकं ज्ञानम्। —तं॰आ॰, 1/37, पृ॰ 85
5. तत्पशोरविकल्पितम्। —तं॰आ॰, 1/38, पृ॰ 84
6. तदज्ञानं न बुद्ध्यंशोऽध्यवसायाद्यभावतः॥ —तं॰आ॰, 1/38, पृ॰ 87
7. अहमित्थमिदं वेदेमीत्येवमध्यवसायिनी।
   षट्कञ्चुकाबिलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा॥
   धीर्जायते तदा तादृग्ज्ञानमज्ञानशब्दितम्॥ —तं॰आ॰, 1/39-40, पृ॰ 87

"इस बौद्धिक ज्ञान (अज्ञान) का भी मूल कारण पौरुष अज्ञान ही होता है। वही पोषणीय (कार्य) तथा पौष्ह (कारण) भी बन जाता है।[1]

इस प्रकार से अज्ञान के बौद्धिक व पौरुष प्रकार भेद आगम में प्रतिपादित किए गए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आणव मल (अज्ञान, माया) युक्त संकोच ही इन दो अज्ञानों के रूप में विकसित होता है तथा बुद्धि के स्तर पर आकर यह अत्यन्त दृढ़ बन्धन का ही कारण भी बन जाता है। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जो विभिन्न प्रकार का बौद्धिक ज्ञान अंतज करता है, वस्तुतः वह शास्त्रों की दृष्टि से केवल अज्ञान की ही कोटि में रखा जाता है आगमशास्त्र क्योंकि पारमेश्वर ज्ञान के शास्त्र हैं, अतः उनका कथन ही यहाँ प्रामाणिक व तर्कसंगत सिद्ध होता है। इसके विपरीत लौकिकरूप में भी बौद्धिक ज्ञान की अज्ञता उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। अतः लोक व शास्त्र दोनों ही प्रमाणों से बौद्धिकज्ञान अज्ञान कोटि में ही प्रविष्ट हो जाता है।

इस बौद्धिक अज्ञान का भी मूलकारण पौरुषाज्ञान न ही मूल कहा जाता है और वह भी जब क्षीपा हो जाता है तो स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा वही पौरुषज्ञान के रूप में पराहन्तात्मकरूप में कृत्रिमाहंकार से विपरीत पूर्णाह रूप में प्रकाशित होता है।[2]

"पौरुषरूप में अनुभव से युक्त ज्ञान ही बौद्धिक ज्ञान का भी पूर्ववत् कारण बनता है।"[3]

"यह पौरुषज्ञान भी पूर्ण व अपूर्णरूप में विशेषरूप से गृहीत होने से ही पौरुष व बौद्ध इन दो भेदों वाला हो सकता है।[4]

"यह बौद्धिक ज्ञान भी जब तक शरीर की समाप्ति नहीं हो जाती, तब तक ही सीमित ज्ञान के रूप में स्फुट प्रकाशित होता रहता है।[5] इससे

---

1. बौद्धं तस्य च तत्पौंस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च॥ —तं॰आ॰, 1/40, पृ॰ 87
2. क्षीणो तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरस्थितेः।
विकस्वरं यद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम्॥ —तं॰आ॰, 1/41, पृ॰ 89
3. विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावता।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्तं प्राग्वत्पोष्नं च पोष्टृ च॥ —तं॰आ॰, 1/42, पृ॰ 89
4. तथैव पूर्णापूर्णत्वेन पुनः विशेषोग्राह्यः, अन्यथा हि
ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपमेवाभिहितं न स्यात्॥ —तं॰आ॰, 1/41, पृ॰ 89
5. तथापि तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम्॥ —तं॰आ॰, 1/41, पृ॰ 89

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह बौद्धिकज्ञान मूलस्वरूप में अभावात्मक ज्ञान ही होता है, क्योंकि इसमें केवल पौरुष ज्ञान की उन्मुखतामात्र ही बनी रहती है।[1] इसी कारण यह पूर्वोक्त बौद्धिकज्ञान से पृथक् भी होता है। "दीक्षा ही पौरुषाज्ञान का नाश करती है तदपि शरीर की सत्ता तक बौद्धिकज्ञान (सीमित ज्ञान) भी अवस्थित रहता ही है।[2] वह भी पौरुषाभिमुखी होने से ही सीमित होते हुए भी 'ज्ञान' कहलाने लगता है। यही अभावात्मक ज्ञान के उदय का स्वरूप आगमशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। "यही बौद्धिक अज्ञान का अभावमात्रात्मक ज्ञान ही बौद्धिक अज्ञान का भी विलय करके जीवन्मुक्ति का कारण भी जाता है।[3]

यहाँ आगमशास्त्रों में बौद्धिकज्ञान भी विशेषरूप में ही परिभाषित किया जाता है। तदानुसार "जो ज्ञान ईश्वरीय अद्वैतवादी शास्त्रों के श्रवण, मनन निदिध्यासनादि से उत्पन्न होता है, वही बौद्धज्ञान कहलाता है[4] न कि अन्य सांसारिक पदार्थों का सूक्ष्म ज्ञान।"

इसकी प्राप्ति में दीक्षा के द्वारा सर्वप्रथम अधिकार प्राप्ति व तदुपरान्त ज्ञानाविर्भाव सिद्ध होता है। "यहाँ बौद्धकज्ञान पूर्वक दीक्षा की भी प्रशान्ति की गई है और उसके द्वारा बाद्धिकज्ञान (शास्त्रोत्थित) की प्रधानता का कथन भी किया गया है।"[5]

"इस बौद्धिकज्ञान की उत्पत्ति भी ईश्वरीय शास्त्रों के अधिगम से ही संभव होती है।[6] इसी स्थल पर पहुँचकर यह शास्त्रप्राजनित बौद्धिकज्ञान ही पौरुषज्ञान से श्रेष्ठसिद्ध हो जाता है, क्योंकि पौरुषज्ञान देहान्त के पश्चात् मुक्ति साधन करता है जबकि बौद्धिकज्ञान शास्त्र की सहायता से तत्क्षण ही विकल्प का उन्मूलन हो जाता है। फलस्वरूप जीव मुक्ति सिद्ध

---

1. अज्ञानाभावमात्ररूपमात्मज्ञानं व्यक्त्युन्मुखमपि। —तं॰आ॰, 1/43, पृ॰ 90
2. तत्र दीक्षादिना पौंस्नमज्ञानं ध्वंसि यद्यपि।
   तथापि तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम्॥ —तं॰आ॰, 1/43, पृ॰ 89
3. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
   विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता॥ —तं॰आ॰, 1/44, पृ॰ 92
4. बौद्धज्ञानेन इति परमेश्वराद्वयशास्त्रश्रावणाद्युद्भूतेन। —तं॰आ॰, 1/44
5. शास्त्रमेव प्रधानं यज्ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम्॥ —तं॰आ॰, 1/47, पृ॰ 96
6. एवं बौद्धमपि ज्ञानं पारमेश्वरं शास्त्रमन्तरेण [illegible] समुदियात्। —तं॰आ॰, 1/47

हो जाती है।[1] क्योंकि इस प्रकार के "बौद्धिकज्ञान में शास्त्र की ही प्रधानता रहती है।[2] इस प्रकार के बौद्धिक ज्ञान में ज्ञेयतत्त्व का परम साक्षात्कार प्रकाशात्मक (ज्ञानात्मक) रूप में हो जाता है इसीलिए यह श्रेष्ठ मुक्तिदायक ज्ञान भी कहा जाता है क्योंकि "ज्ञेयपदार्थों का भी जो परम तत्त्व होता है वह प्रकाशात्मक शिव ही है। क्योंकि बिना प्रकाशात्मकता (ज्ञानात्मकता) के तो न ही प्रकाशय का व न ही वस्तुत्व का ही अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है।[3] अतः "ज्ञेयपदार्थों के परमतत्त्व के रूप में प्रकाशात्मा (चेतन, शिव) की ही सिद्धि शास्त्रों में की गई है तथा पदार्थों की जो अभावात्मकता होती है उसका प्रकाशन भी इसी प्रकाशात्मक बोध के द्वारा सिद्ध हो जाता है।[4]

इसप्रकार से यह प्रकाशात्मक स्वरूप स्वयं ही स्वसत्ता का सर्वोपरि प्रमाण स्वीकार किया जाता है। इसी से सनातन अनादिसिद्ध ज्ञान की परम्परा का आविर्भाव देखा जाता है।

यह आगमिक पौरुषाज्ञान व बौद्धाज्ञान मूलाविद्यात्मक आणवमल के ही तारतम्य का अवस्थान्तर प्रकट करता है और पुरुष तत्त्व व बुद्धितत्त्व में पहुँचकर ही इन अज्ञान की स्थिति तत्त्द् वृत्तियों के अनुसार सिद्ध होती है। अतः उक्त वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि आगमिक परम्परा में अज्ञान का ही वर्णन अज्ञान, माया, मल, अभिलाषा, शक्ति इत्यादि के रूप में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है; इसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

काश्मीर शैवागम में ज्ञान

निगमागमों में विद्या-अज्ञान, ज्ञान-अज्ञान इत्यादि पदों का विस्तार से विविध अर्थों में वर्णन उपलब्ध होता है। प्रस्तुत प्रकरण में आगमिक

---

1. बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु विकल्पोन्मूलनाद् ध्रुवम्।
   तदैव मोक्ष इत्युक्तं धात्रा श्रीमन्निशाटने॥ —तं॰आ॰, 1/50, पृ॰ 98
2. इतरस्तु तदेवेति शास्त्रस्यात्र प्रधानतः॥ —तं॰आ॰, 1/51, पृ॰ 99
3. ज्ञेयस्यं परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः।
   न ह्यप्रकाशरूपस्य प्रकाश्यं वस्तुतापि वा॥ —तं॰आ॰, 1/52, पृ॰ 100
4. अबोधोऽपिबुध्यमानो बोधात्मभूत ईश्वर एव। —तं॰आ॰, 1/53, पृ॰ 101

दृष्टिकोण से ही 'ज्ञान' के विषय में विचार प्रस्तुत किया जाएगा।

स्वच्छन्दतन्त्रानुसार 'ज्ञान' को ही पराविद्या (शुद्धविद्या) भी कहा गया है, क्योंकि उससे अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञान नहीं होती है।[1]

इस 'ज्ञान' या 'पराविद्या' को प्राप्त करने पर मनुष्य (योगी, साधक) तत्क्षण ही सर्वज्ञतादिगुणों को सहज ही प्राप्त कर लेता है।[2]

इस सर्वज्ञतादिगुणों में से कतिपय महत्त्वपूर्ण गुण या धर्म तन्त्र ने इस प्रकार से वणत किए हैं कि "अनादि (सिद्ध) धर्म (गुण, तत्त्व) का ज्ञान, परमेश्वरत्व का ज्ञान तथा अनीश्वरत्व की वर्जना इन तीन मुख्य विषयों का जो ज्ञान व अनुभव प्रदान करवाती है उसे ही आगम में 'ज्ञान' कहा जाता है।"[3]

"उस दशा में यह योगी ज्ञान में स्थित रहते हुए पर तेज़ को जोकि संसार का परम (एकमात्र) कारण होता है, उसे प्रकाशित को प्राप्त कर लेता है।[4]

इस प्रकार से ज्ञान का वर्णन आगमशास्त्रों में विचार से मिलता है। विद् धातु ज्ञानार्थ व प्राप्तयर्थक भी पढ़ी जाती है। अतः वेदन या ज्ञान के द्वारा जो मनुष्य का प्राण कराती है, वही ज्ञान कहलाती है।

इस प्रकार से ज्ञान का कथन भी अज्ञान की तरह पराविद्या, शुद्धविद्या, आत्मज्ञान, ज्ञान, पौरुष ज्ञान, बौद्धज्ञान आदि के रूप से आगमों में प्राप्त होता है।

काश्मीर शैवागम में यह ज्ञान मूलरूप से स्वात्मा के प्रकाश व विमर्श स्वभाव को जान लेने के अर्थ में ही प्रतिपादित की गई है।[5] इन ज्ञान के द्विविध पक्षों में "प्रकाशपक्ष शुद्धसंवित् स्वरूप में विश्व के सभी भौतिक पदार्थों का मूलतत्त्व होता है जोकि अपने ही तारतम्य से

---

1. तस्मात्सा तु परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते। —शि॰सू॰वि॰, 1/21, पृ॰ 75
2. विन्दते ह्यप्रयुगपत्सर्वज्ञयादिगुणान्परान्। —शि॰सू॰वि॰, 1/21, पृ॰ 75
3. वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबो धना।
   वर्जनापरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते॥ —शि॰सू॰वि॰, 1/21, पृ॰ 76
4. तत्रस्थो व्यच्जयेत्तेजः पर परमकारणम्।
   परस्मिंस्तेजसि व्यक्ते तत्रस्थाः शिवतां व्रजेत्॥ —शि॰सू॰वि॰, 1/21, पृ॰ 76
5. Owing to its nature as prakasha vimarsa, the self is capable of having knowledge. K.S. Pg. 90

विश्वरूप में फैलता है।[1] तथा "विमर्शपक्ष में आत्मा स्वयं को एकत्व के रूप में जानने में समर्थ हो जाती है, जोकि विभिन्न अवस्थाओं व आकारों में विभाजित होती है।[2] अतः "विमर्शपक्ष ही या स्वयं विमर्श ही 'अन्तर्ज्ञान' होता है जोकि परमात्मस्वरूप का (ज्ञानात्मकता) बोध करवाता है। अन्यथा विमर्श के बिना तो प्रकाश (परमात्मा) भी जड़ वस्तु ही सिद्ध हो जाएगा।[3]

आगमशास्त्र ज्ञान (विद्या) को अनेक प्रकार की स्वीकार करते हैं, तदनुसार वह परमात्मा भी ज्ञानमय है तथा ज्ञान अनेक रूपों में स्थित है।[4] "जो कुछ भी अन्दर व बाहर प्रकाशित होता है, वह एकमात्र ज्ञान ही है। क्योंकि ज्ञान के बिना अर्थसत्ता की सिद्धि भी नहीं हो सकती। इसलिए यह संसार भी ज्ञान रूप ही है।[5] "ज्ञान क बिना भावों का ज्ञान भी किसी को नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान विषयरूप में भी किसी को नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान ही विषयरूप में भी परिणत हो जाता है। इसीलिए विषयों का अनुभव होता है।[6]

आगमशास्त्रों में "शुद्ध "तत्त्व परमशिव को ही कहा गया है।[7] उसमें भी "जब परमतत्त्व का अनुसंधान किया जाता है, तो वह सम्पूर्ण विश्वमय ही सिद्ध होता है।[8] इस प्रकार की अनुभूति का साक्षात्कार करना ही आगमिक ज्ञान का मुख्य स्वरूप कहलाता है इस ज्ञान (शुविद्या) का ही फल चक्रेशत्व सिद्ध कहा गया है।[9] "यह समस्त सिद्ध आदि भी

1. In its prakasa aspect it is pure substratum of physical images which are merely its modes or forms. Same
2. In its Vimarasa aspect, the self is capable of knowing itself in different states and forms such as unity multiplicit and unit in multiplicity. Same, Pg. 90-91
3. विमर्शश्च अन्तःकृत प्रकाशा...।
सर्वथा विमर्श एव ज्ञानंतेन विना हि जडभावोऽस्य स्यात्....॥ —तदेव॰ पृ॰ 92
4. यतो ज्ञानमयो देवो ज्ञानं च बहुधा स्थितम्। —शि॰सू॰वि॰, 3/30, पृ॰ 796
5. ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत्॥ —शि॰सू॰वि॰, 3/30, पृ॰ 796
6. न हि ज्ञानदृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः।
ज्ञानं तदात्मां यातमेतस्मादवसीयते॥ —शि॰सू॰वि॰, 3/30, पृ॰ 796
7. शुद्ध तत्त्वं परमशिवाख्यं। —शि॰सू॰वि॰, 1/16, पृ॰ 62
8. तत्र यदा विश्वमनुसंधत्ते 'तन्मयमेव एतत्' इति। तदेव
9. शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धः। —शि॰सू॰वि॰, 1/16, पृ॰ 62

ज्ञानमूलक ही होते हैं, अन्यथा तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।[1] "ज्ञान को पराद्वयप्रथा भी आचार्य क्षेमराज ने कहा है।[2] "इसे ही अन्य शब्दों में आचार्य जयदेवसिंह ने सर्वोच्च अद्वैत तत्त्व (निर्गुण तत्त्व) का ज्ञान भी कहकर परिभाषित किया है।[3] "इस परमाद्वैत ज्ञान की सहज उत्पत्ति होने पर, जोकि परमेश्वर की इच्छामात्र से ही घटित होती है, साधक ज्ञानाकाश में ही विचरण परमेश्वर की इच्छामात्र से ही घटित होती है, साधक ज्ञानाकाश में ही विचरण करता है। यही शिवावस्था (स्वात्मानन्दोछलत्ता) कही गई है।[4] इस दशा में "आत्मा के चिदात्म स्वरूप का ही उन्मज्जन (प्रकाशन) होता है।"[5]

शेष समस्त पदार्थ उसी चिद् में आत्मसात् हो जाते है इस दशा में पहुँचने पर "सीमित बन्धात्मक ज्ञान योगी के लिए अन्न ही बन जाता है।"[6] अर्थात् अन्न की भान्ति ही मितज्ञान का केवल योगी कर लेते है।[7] "इस विद्यात्मक (ज्ञानात्मक) स्वरूप की उपलब्धि होने पर साधक (भोगी) को अपनी आत्मा में स्थिति सूक्ष्म आन्तरिक स्फुरतामय परिस्पन्द की सिद्धि (अभिव्यक्ति) भी हो जाती है।[8] इस उपलब्धि का कारण भी "तात्त्विकस्वरूव के विमर्श से विशारद (निपुण) बनी हुई बुद्धि ही होती है।[9] आचार्य जयदेवसिंह ने इसका अर्थ 'ऋतम्भराप्रज्ञा' किया है, क्योंकि

1. ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिद्धयति। —शि॰सू॰वि॰, 2/1, पृ॰ 83
2. विद्या पराद्वय प्रथा। —शि॰सू॰वि॰, 2/3, पृ॰ 89
3. विद्या = The Knowledge of the highest non-dualism. —शि॰सू॰वि॰, 2/3, पृ॰88
4. प्राङ्गिर्नदष्टसतत्त्वाया विद्यायाः स्वाभाविकक समुत्थाने, परमेशेच्छामात्रघटिते मितसिद्धिन्यग्भाविनि सहजे समुन्मज्जने, खे बोधगगने चरति इति...। शिवस्यचिन्नाथस्य अवस्थातुः सम्बन्धिनी अवस्था, स्वानन्दोच्छलत्तारूपा। —शि॰सू॰वि॰, 2/5, पृ॰ 99
5. चिदात्मकस्वरूपोन्मज्जनैकरूपम्। —शि॰सू॰वि॰, 2/5, पृ॰ 99
6. ज्ञानमन्नम्। —शि॰सू॰वि॰, 2/9, पृ॰ 120
7. तत् अद्यमानत्वात् ग्रस्यमानत्वात् योनिनामन्नम्। —शि॰सू॰वि॰, 2/9
8. सत्त्वस्य स्फुरत्तात्मनः सूक्ष्मस्य आन्तपरिस्पन्दस्य सिद्धिरभिव्यक्तिर्भवति। —शि॰सू॰वि॰, 3/12, पृ॰ 158
9. तात्त्विकस्वरूपविमर्शनविशारदा — विशदा धिषणों। —शि॰सू॰वि॰, 3/12, पृ॰ 158

वही तात्त्विक स्वरूप को धारण करने में समर्थ होती है, न कि साधारण अध्यवसायात्मिका बुद्धि।[1]

इस अवस्था में पहुंचकर ही ज्ञान साधक को स्वात्मा के मूल सिद्ध स्वतन्त्रभाव में प्रतिष्ठित कर देती है।[2] "इस स्वतन्त्र भाव में सहज (स्वाभविक) ही ज्ञत्व व कर्तृत्वरूपी समस्त विश्व का वशीकरण करने वाले स्वातन्त्रय साधक को प्राप्त हो जाता है।[3] अतः आगमिक दृष्टि में "ज्ञान (पराशक्ति) समस्त विश्व का बीज होती है।[4] "इसी में पुनः पुनः चित्त का निवेश करना चाहिए।[5] तभी स्वाभाविक ज्ञान का फल साधक को जीवन में ही प्राप्त हो सकता है।

"आगमों में इस विद्यातत्त्व का निर्धारण तत्त्वपञ्चक रूप में या ब्रह्मपञ्चकरूप में भी किया जाता है और यह (ज्ञान) छत्तीस तत्त्वों में से पूर्व के शिशक्त्यादि पाञ्च तत्त्वों में ही परिगणित की गई।"[6] "ये पाञ्चतत्त्व भी परमशिव की पार्मशिव की पाञ्च स्वरूप भूतशक्तियों से ही सिद्ध होते हैं।[7] यह परमशिव का पञ्चधा स्वातन्त्रयाभास चिद् आनन्द, ईश, ज्ञान व क्रिया रूपों में ही प्रकाशित होता है।[8] इन पाञ्चों शिव की शक्तियों में यद्यपि एक-एक शक्ति भी पूर्णशक्ति युक्त होती है तदपि इस प्रकार से "वह परमशिव चिदात्मा देव अपनी इच्छामात्र से ही अन्तः स्थित रहते हुए भी योगी की तरह बाहर बिना उपादानादि कारणें के भी सम्पूर्ण अर्थों (प्रमेयों, विषयों) का प्रकाशन करता है।"[4]

---

1. Dhi does not mean mere intelligence but rtambhara prajha, inwards awakening ladan with truth. —शि॰सू॰वि॰, 3/12, पृ॰ 158
2. सिद्धः स्वतन्त्रभावः। —शि॰सू॰वि॰, 3/13
3. स्वतन्त्रभावः, सहजज्ञत्वकर्तृत्वात्मकम्
   अशेषविश्ववशीकारि स्वातन्त्र्य्। —शि॰सू॰वि॰, 3/13, पृ॰ 159
4. बीजं विश्वकारणं स्फुरत्तात्मा पराशक्तिः। —शि॰सू॰वि॰, 3/15, पृ॰ 162
5. भूयो भूयश्चित्तनिवेशनं कार्यम्। —शि॰सू॰वि॰, 3/15, पृ॰ 162
6. शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम्। —तं॰आ॰वि॰, 9/50, पृ॰ 365
7. शिवःस्वतन्त्रदृग्रुपः पञ्चशक्तिसुनिर्भरः॥ —तं॰आ॰वि॰, 9/49, पृ॰ 364
8. चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः॥
   योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/7, पृ॰ 93

यहाँ आगमिक विद्यात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण इच्छाशक्ति के द्वारा ही किया गया है। क्योंकि "इच्छामर्श ही सम्पूर्ण भावराशि के प्रकाशन करने में समर्थ होता है।"[1] यहाँ रहस्य भी भली प्रकार से हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि "स्वयं अपने अन्दर से बाह्यरूप में भावराशि का प्रकाशन करने पर भी चिदात्मा की आन्तरिकरूपता (पूर्णाहन्ता) का खण्डन (त्रोटन) कभी नहीं होता।[2]

यही वस्तुतः आगमिक ज्ञान (विद्या) का मुख्य स्वरूप होता है कि प्रत्येकावस्वथा व पदार्थों में भी यह परामर्श, विमर्श अर्न्तनहित बना रहकर ही वस्तुओं का प्रकाशन करता है।

इसीलिए आचार्य उत्पल ने भी कारिका में अंवभास (ज्ञान, भासना) कार स्वभाव (मौलिक धर्म) ही विमर्श को कहा है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाए तो प्रकाश जोकि अथों को प्रकाशित करता है वह भी स्फटिकादि की तरह जड़ ही माना जाएगा।"[3] क्योंकि दर्पणदि जड़ पदार्थों में भी तो विषयों का अवभाव देखा ही जाता है।

यह परामर्शात्मक स्वरूप ही काश्मीर शैवागम में वास्तविक ज्ञान (विद्या) अनुभूति, संवेदन, संवित्ति का प्रतिनिधित्व करता है; इसके बिना अन्य सभी प्रकार के व्यापार, चाहे आन्तरिक हों या बाह्य, सिद्ध ही नहीं किए जा सकते। अतः परामर्श के स्वरूप के द्वारा ही आगमिक ज्ञान का स्वरूप वस्तुतः प्रतिपादित किया जा सकता है। परामर्श की परिभाषा के अनुसार अजाङ्ग्यजीवन (जऽतारहित चेतना, चैतन्य), अन्तर वं बाहर करणों की स्वतन्त्रता (मानसिक व भौतिहत इन्द्रियों की स्वतन्त्रता), स्वातविश्रान्ति (पूर्णाहं भाव में स्थिति), अनन्यमुखप्रेक्षर (किसी की अपेक्षा न होना, निरपेक्ष सामर्थ्य युक्त) ये ही अवभास (ज्ञान, विद्या) के मूल लक्षण कहे जा सकते है; इन्हीं का संग्रहात्मक वाचकपद 'परामर्श' होता है।[4]

---

1. स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
   अस्त्येव न बिना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/10, पृ॰ 97
2. बहीरूपतयापि आभासने अन्तःरूपता न त्रुट्यति। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/10, पृ॰ 98
3. स्वभावमनभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
   प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिर्जडोपमः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/11, पृ॰ 100
4. तथा परामर्शनमेव अजाड्यजीवितम्, अन्तर्बहिष्करण स्वातन्त्र्यस्वयं स्वाभाविकम्, अवभासस्य स्वात्मविज्ञान्ति लक्षणम्, अनन्यमुखप्रेक्षित्वं नाम।
   —ई॰प्र॰का॰, 1/5/11, पृ॰ 101

यही ज्ञान के अर्थ की आगमिक परम्परा न केवल आगमशास्त्रों में ही प्राप्ति होती है अपितु निगमों में भी इसी परामर्शात्मक अर्थ की सिद्धि ज्ञान (विद्या) के रूप में उपलब्ध होती है। आचार्य उत्पलदेव आगमिकार्थों का संग्रह अपनी कारिका में करते हुए कहते हैं कि "आत्मा से ही चैतन्य, चित्क्रिया का संग्रह अपनी कारिका में करते हुए कहते हैं कि "आत्मा से ही चैतन्य, चित्क्रिया व चेतनकर्तृता तात्पर्यार्थ से सिद्ध होती है, इसी कारण यह (आत्मा) जड़पदार्थों से विलक्षण होता है।"[1]

इस अर्थ (परामर्श, ज्ञान विद्या) को ही आचार्य अभिनवपाद ने धर्म व धर्मी के दृष्टिकोण से भी प्रतिपादित करके स्वष्टीकरण किया है कि "आत्मा धर्मी स्वभाववाला द्रव्य रूप होता है तथा उसका चैतन्य इस धर्मवाचक शब्द से ही न इन दोनों (आत्मा व चैतन्य, धर्मी व धर्म) का सामानाधिकरण्य (एक ही आश्रय में रहना) सिद्ध किया जाता है।[2]

यह केवल आचार्य अभिनवपाद का ही मन्तव्य हो बात नहीं है अपितु स्वयं अपने कथन की पुष्टि में पूर्वसिद्धाचार्य वसुगुप्त के शिवसूत्रों का भी प्रमाण उपस्थित करते है।[3]

अतः परामर्श के विषय में तथा ज्ञान के विषय में समस्त आगमों का रहस्य (अद्वैतज्ञान) ही शिवसूत्रों में तथा अन्यान्य आगमशास्त्रों में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य अभिनवपाद ने महंष पतञ्जलि के योगसूत्रों के माध्यम से इस आगमिक ज्ञान के अर्थ की पुष्टि भी अपने भाष्य में की है। तदनुसार "चितिशक्ति अपरिणमिनी होती है, 'वही द्रष्टा का कैवल्य होती है तथा 'द्रष्टा भी दृष्टिमात्र (ज्ञानमात्र) ही होता है।"[4]

---

1. आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता।
   तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 102
2. आत्मा धर्मस्वभावो द्रव्यभूतोऽपि, चैतन्यम् इति
   धर्मवाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 102
   धर्मवाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 102
3. भगवान् शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्म' इति पठितम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 102
4. चितिरपरिणामिनी, तद्दृशेः कैवल्यम्, द्रष्टा दृशिमात्रः इत्यादौ।
   —ई॰प्र॰वि॰, 1/5/12, पृ॰ 103

इन योगसूत्रों में भी "मर्हष पतञ्जलि ने भी आत्मा का धर्मशब्द से ही सामानाधिकरण्य प्रर्दशत किया है।"[1]

यहाँ आत्मा को चैतन्य कहने के विषय में केवल इतना ही मूल रहस्य आगमशास्त्र का है कि चैतन्य धर्म (परामर्श विमर्श, ज्ञान विद्या पूर्णाहं) के कथन से अन्य सभी धर्मों को निम्न (दबाकर) बनाकर केवल विमर्श धर्म की ही प्रधानता का बोध करवाने के लिए ही, आत्मा चैतन्य ऐसा शिवसूत्र में कहा गया है।[2]

अतः चैतन्यात्मक विमर्शमय धर्म के ही मुख्य होने से उसके अन्य धर्मों की सिद्धि भी स्वतः ही हो जाती है। जैसे चित्ति की क्रिया ही कर्तृतारूपी धर्म बनती है, इससे चेतन का कर्तृत्व धर्म भी सिद्ध हो जाता है।[3] इस चैतन्य व कर्तृत्व धर्म के सिद्ध हो जाने पर उसमें (आत्मा में) स्वातन्त्र्य धर्म होता है।[4] क्योंकि "यदि चेतन में यह स्वातन्त्र्यधर्म न रहे तो आत्मा जड़मात्र ही बना रह जाएगा।"[5]

"जड़मात्र हो जाने से इस चेतन की विश्रान्ति (स्वरूपावस्थान) भी सिद्ध नहीं होगी।[6]" इस प्रकार से चेतनात्मा अपने स्वातन्त्र्यरूपी धर्म से जुड़कर ही "निरिपेक्षसत्तासम्पन्न (अनन्यमुखप्रेक्षिततत्व) भी बन जाता है।[7]"

क्योंकि "यह अनन्यमुखप्रेक्षिता ही अपारिच्छिन्नप्रकाश का सार होती है।[8] अर्थात् आत्मा असीमित प्रकाश (चेतनता व विमर्श) से सदैव

---

1. धर्मशब्देन सामानाधिकरण्यम् आत्मनो र्दशतं गुरुणा अनन्तेन।
—ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
2. आत्मा चेतन इति वक्तव्ये धर्मान्तराधरीकरणाय विमर्शधर्मोद्धुरीकरणाय च आत्मा चैतन्यम् इत्युक्तम्।
—ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
3. चितिक्रिया च चितो कर्तृता। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
4. स्वातन्त्र्यं संयोजनवियोजनानुसंधानादिरूपम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
5. आत्ममात्रतामेव जऽवत्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
6. जडवत् अविश्रान्तित्वम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
7. अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् इति। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103
8. अपरिच्छिन्नप्रकाशसारत्वम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् इति।
—ई॰प्र॰का॰, 1/5/12, पृ॰ 103

ही संयुक्त रहता है। ऐसा होने पर ही उसे किसी भी अन्य पदार्थ की सहायता की अपेक्षा भी नहीं रहती। वह (चेतनात्मा) स्वयं में ही सर्वसमर्थ होती है।

इस चेतनात्मा का परामर्श भी जड़-चेतन, प्रकाश- अप्रकाश ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अज्ञान, इत्यादि द्वन्द्वात्मक रूपों में भी देखा जाता है। परन्तु विमर्श में तो केवल शुद्ध परमतत्त्व का ही पूर्णाहमात्मक बोध होता है तो इस अपूर्णात्मक अहम् रूपी विमर्श की स्थिति किस तत्त्व में स्वीकार की जाए? इस प्रश्न का समाधान आचार्य उत्पलदेव ने यह कहकर किया है "यह चित्ति, जोकि प्रत्यवमर्शस्वरूपिणी (अहमस्मि, पूर्णाहं) है, परावाक् स्वरसोदिता, होती है तथा परमेश्वर का यही मुख्य ऐश्वर्य व स्वातन्त्र्य भी कहलाती है।[1] विश्व के सभी पदार्थों का अवबोध इसी मूलभूत "अहमात्मक विमर्श से ही अस्ति नास्ति इन दोनों ही रूपों में घटित होता है।[2] "यह विमर्श का मूलभूत स्वभाव ही होता है वह सभी परिस्थितियों व अवस्थाओं को भी ग्रहण करने में सदा तत्पर रहता है। वह परपदार्थों (प्रमेय, इदमश, विषय, भिन्नविषम) को भी स्वात्मसात करता है, स्वयं को भी परात्मसात् करवाता है (विषयरूप में भासित करवाता है) पुनः इन दोनों (स्वात्मा व पर, अहमिदम) को भी एकात्मक कर देता है।[3]

इसी के साथ "यह विमर्श जड़ चेतन को एकी करके भी उन दोनों का भी तिरस्कार कर देता है।[4] अर्थात् अहमिदमात्मक तत्वद्वय भी परमसत्ता, परममैश्वर्य पूर्णाहं संवित्ति में विलीन हो जाते हैं। इन दोनों को ही चिन्मात्र चिदात्मा में लय हो जाता है। इस प्रकार से परोन्मुख, स्वोन्मुख

---

1. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक्स्वरसोदिता।
   स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्चर्यं परमात्मनः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 104
2. एवं च विमर्शः स्वात्मनि अविमर्शोऽपि
   स्वात्मनि इति सिद्धमेतत्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 105
3. विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति,
   आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 105
4. एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येव स्वभावः। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 105

उभयोन्मुख, अनुभयोन्मुख होना ही विमर्श का स्वभाव होता है।[1] ये चारों कोटियाँ भी ज्ञान की कही जा सकतीं हैं। अर्थात् ज्ञानशक्ति इन चारों प्रकारों से प्रकारों से प्रवृत्त होते हुए अपनी अन्तिम कोटि में अनुभयात्मक होकर अपरिच्छिन्न हो जाती है।

इसे ही आगमशास्त्र में "आन्तरिक अभिलाषात्मक शब्द न स्वभाव कहा जाता है। वह भी संकेत से निरपेक्ष (असांकेमिक, अवनपेक्षित) शब्द न होता है तथा अविच्छिन्तचमत्मारमय एवं अन्तर्मुशिरोनिर्देशास्वरूपी होती है।[2]

इस ज्ञानत्मक (विद्यात्मक विमर्श) विमर्श की सामर्थ्य भी "चिद्रूपता (चैतन्य) ही होती है, उसी के द्वारा इसका उदय नित्य निरन्तर अहमात्मक रूप में ही होता रहता है।[3]" इसी विद्याशक्ति (ज्ञानशक्ति) के मूल स्वरूप को "स्फुरत्ता, महासत्ता देशकाल से परे, परमेष्ठी का ह्वदय एवं सार भी कहा जाता है।"[4] इस ज्ञानशक्ति के लोकोतर ऐश्वर्य के कारण ही परमेश्वर की अनेकों असंख्य शक्तियों के प्रकट होने पर भी केवल विमर्शशक्ति (ज्ञानशक्ति, विद्याशक्ति) का ही सर्वक्षेष्ठत्त्व सर्वोपरित्व भी इसी कारण से सिद्ध होता है यह (विमर्शशक्ति, ज्ञानशक्ति, विद्याशक्ति) स्वयं को ही ज्ञेय (विषय, प्रमेश, इदंश, वस्तु पदार्थ) बना लेती है।[5] अर्थात् यह परमात्मा प्रकाशात्मारूप होने से सदा ज्ञाता रूप में ही स्थित रहता है। इस कारण से जब यह विमर्शशक्ति अज्ञेय पदार्थ को भी ज्ञेय बनाकर, परमेश्वर को ज्ञेय बना देती है। यही विमर्शशक्ति की

1. इत्येनं स्वभावः। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 105
2. अन्तरभिलापात्मकशब्दनस्वभावः, तच्चशब्दनं संकेतनिरपेक्षमेव अविच्छिन्नपमत्कारात्मकम्, अन्तमुर्खशिरोनिर्देशप्रख्यम्।
—ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 105
3. चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदितासततम्
अनस्तमिता नित्या अहमित्येव। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/13, पृ॰ 105
4. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/14, पृ॰ 106
5. आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थितिः। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/15, पृ॰ 111

श्रेष्ठता होती है।[1] यदि यह (विमशेशक्ति, विज्ञाशक्ति, ज्ञानशक्ति) ज्ञेय (ज्ञाता पदार्थ, परमात्मा) पदार्थ ज्ञातारूपी आत्मा से भिन्न होता, तो यह जो ज्ञेय ज्ञान की उन्मुखतारूपी स्वसंवेदन (स्वानुभव) सिद्ध रूप में देखा जाता है, यह न होता।"[2] क्योंकि ज्ञाता से पृथक् बाह्य ज्ञेयविषय की उन्मुख होने से तो ज्ञाता अन्याधीन हो जाता है, इस कारण वह परतन्त्र हो जाता है। यह परतन्त्रता ही स्वतन्त्रता से विरुद्ध ही होती है।"[3] इसलिए चिदात्मा की स्वतन्त्रता का खण्डन ही जाता।[4]

अतएव किसी अन्य पदार्थ की ओर उन्मुख न होते हुए स्वतन्त्र रहकर ही यह विमर्शशक्ति (ज्ञानशक्ति, विद्याशक्ति) स्वात्मा को ही ज्ञेय बना देती है।[5] "साथ ही साथ समस्त नीलादि पदार्थसार्थ को भी ज्ञेय बनाती है।"[6]

अतः परतन्त्र नीलादि पदार्थरूपी ज्ञेय (विषय, प्रमेय) तथा स्वतन्त्र आत्मा ईश्वरादि रूपज्ञेय, इन दोनों के प्रकाशन का कार्य परमेश्वर की "विमर्शशक्ति ही करती है। अतएव वही प्रधान शक्ति कही जाती है।"[7] इसी ""विमर्शशक्ति का मायाशक्ति के द्वारा भेद किया जाता है तो वही (विमर्शशक्ति) ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय इत्यादि नामों के द्वारा कही जाती है।[8] इन "इन ज्ञान संकल्पादि में भी जो क्रम का आभास देखा जाता

---

1. परमेश्वरः स्वात्मानं ज्ञात्रेकरूपत्वात् अज्ञेयमपि ज्ञेयीकरोति। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/15, पृ॰ 111
2. यदि व्यतिरिक्तं ज्ञेयस्यात् तत् ज्ञातृरूपस्य आत्मनो यत् एतत् ज्ञेयविष्। औन्मुख्यंस्वसंवेदनसिद्धं दृश्यते तत् न अस्य स्यात्। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/15, पृ॰ 112
3. तेन व्यतिरिक्तविषयौन्मुख्येन अनाधीनत्वं नाम पारतन्त्र्यम् अस्य आनीयते पारतन्त्र्यं च स्वातन्त्र्यस्य विरुद्धर्म। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/15, पृ॰ 112
4. खण्डयेतास्य स्वतन्त्रता। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/15, पृ॰ 111
5. यतो अयम् आत्मनं परामृशति। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/15, पृ॰ 112
6. ततो विश्वनिर्भरत्वात् तथा नीलादित्वेन चकास्ति। तदेव
7. तस्मात् स्वातन्त्र्यशून्यताभासनेन स्वातन्त्र्ययुक्ताभासनेन च यत् इदम् उभयम् ज्ञेयम् आत्मरूपमे व परमेश्वरो भासयति, तत् विमर्शशक्तिबलात् एव, इति सैव प्रधानम् इति। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/16, पृ॰ 113
8. मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा। कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/5/18, पृ॰ 116

है वह भी केवल भिन्न-भिन्न संबंधों देश व कालादि के कारण ही होता है।[1] अतः परमेश्वर की ही विमर्शशक्ति सर्वत्र अपना विलास प्रदर्शत करती है।"

यदि विमर्शशक्ति का यह ज्ञानसंकल्पादि विभाजन सिद्ध नहीं होता, जोकि परस्पर भिन्न ही होते हैं, तो उनमें एकत्र अनुसंधानत्मिक वृत्ति का जो व्यवहार होता है, उसके न रहने पर सम्पूर्ण संसार की स्थिति ही नष्ट हो जाती।[2]

क्योंकि समस्त संसार ज्ञान, संकलपादि का अनुसंधान करके ही अपना लौकिक व पारलौकिक व्यवहार सिद्ध करता है। अतः इन सभी पृथक्-पृथक् ज्ञानादि के व्यवहारों का भी कोई एक नियामकतत्त्व होना आवश्यक हो जाता है क्योंकि "अनुसंधान का अर्थ भी एकविषयकभाव की स्मृतिरूपता को प्राप्त करना ही होता है।[3] उसी के आधार पर संसार में मनुष्य अपना व्यवहार सिद्ध करते हैं।[4] अतः "सभी व्यवहार स्मरण के निबन्धन से ही सिद्ध होते हैं, ऐसा कहा गया है।[5] इसीलिए आचार्य अभिनवपाद अधिकारोक्ति के साथ ही यह स्पष्ट कर रहे हैं कि "आगमशास्त्र के हमारे अभिमत प्रकार के बिना ब्रह्मा भी ज्ञानशक्ति का स्वरूप प्रतिपादन नहीं कर सकता।[6] क्योंकि आगमशास्त्रों ने ही गहनता में जाकर तात्त्विक भाषा में। अतः ज्ञानशक्ति के विषय में भी आगम का कथन है, कि "यदि अनन्तविश्वरूप को अपने में स्थिति रखने वाले परमेश्वर (परमशिव, महेश्वर देव, जिनका चिच्छरीर ही ज्ञान, स्मृति व अपोहनशक्ति वाला है, न होते तो इस संसार की लोकस्थिति अवश्य ही

1. केवलं भिन्नसंवेद्यदेशकालानुरोधतः। —ई॰प्र॰का॰, 1/5/21, पृ॰ 122
2. एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्।
   ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/3/6, पृ॰ 58
3. यत् अनुसंधानं एकविष्ज्ञयभावोपपन्नस्मृतिताप्राप्तिरूपं।
   —ई॰प्र॰का॰, 1/3/6, पृ॰ 58
4. तत्र आयत्ता। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/6, पृ॰ 58
5. तथाहि स्मरणनिबन्धनः सर्वो व्यवहारः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/6, पृ॰ 58
6. तच्च अस्मदभिमतप्रकारेण विना विधेरपि अशक्यसमर्थनम्।
   —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 59

नष्ट भ्रष्ट हो जाती।[1]

इस कथन से परमेश्वर की ज्ञान, स्मृति व अपोहन ये तीन शक्तियाँ प्रमुख होती है और इनका अवस्थान भी विमर्शामक स्वरूप में ही सिद्ध होता है। अतः काश्मीर शैवागम में ज्ञान (विद्या) का स्वरूप इन्हीं तीनों ज्ञानादि शक्तियों के द्वारा ही विस्तार से प्रतिपादित किया जाता है।

(क) ज्ञान शक्तिः-

संवित् जब स्वस्वरूप में प्रकाशित रहती है तो तबतक कोई भी पदार्थ अदृश्य नहीं रहता।[2] "यदि वही संवित् केवल स्वात्मा में ही विश्रान्त बनी रहे तो वह कैसे अर्थों (विषयों प्रमेयों पदार्थों) का प्रकाशन करेगी?"[3] यदि यही स्थिति स्वीकार कर ली जाए अर्थात् "संवित् में ही लीन रहे तथा अर्थविषय भी स्वात्मा सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि ग्रह्य ग्राहक ही समाप्त हो जाएगा।[4] कोई किसी का ग्राहक व कोई किसी का ग्राह्म नहीं होगा। अतः "अर्थ प्रकाशित होता है इस प्रकार की संवित् के (ग्राहक के) स्वीकार करने पर बलपूर्वक अर्थ (ग्राह्य) भी उसी के अन्तर्गत स्वतः ही स्वीकृत हो जाता है।[5]

"यद्यपि ज्ञान भिन्न-भिन्न होने से अनेक हो जाते हैं तदपि उनमें एकात्नुसंधानरूपी स्मरण देखे जाने से वे एक ही संवित् (ग्राहक) तत्त्व में अन्तभूत स्वीकार करने ही पड़ते हैं, न चाहते हुए भी।[6] इस प्रकार से "यह संवित् (ग्राहकात्मा) नित्य निरन्तर चाहे उन्मग्न (अर्थप्रकाशिका) हो या

---

1. न चेदन्तःकृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः।
   स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 59
2. सवित् तावत् प्रकाशते इति तावत् न केचित् अपह्नुवते।
   —ई॰प्र॰वि॰, 1/3/7, पृ॰ 59
3. सा तु संवित् यदि स्वात्ममात्रविश्रान्ता अर्थस्य सा कथं प्रकाशः?
   —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 59-60
4. स हि अर्थधर्म एव तथा स्यातु, ततश्च अर्थप्रकाशः
   तावत्येव पर्यवसितः — इति गलितो ग्राह्यग्राहकभावः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60
5. अतोऽर्थप्रकाशरूपां संविदम् इच्छता बलादेव अर्थोऽपि
   तद्रूपान्तर्गत एव अङ्गीकर्तव्यः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60
6. स च अर्थप्रकाशो यदि अन्यश्च अन्यश्च तत्न स्मरणाम् उपपन्म्-इति अत एक एव असौ — इति एकत्वात् सर्वो वेद्यराशिः तेन क्रोडीकृतः-इत्येतदपि अनिच्छता अङ्गीकार्यम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60

निमग्न (स्वात्मविश्रान्त) दोनों ही दशाओं में विश्वात्मक स्वरूप से प्रकाशित होती ही रहती है। क्योंकि यही इसका स्वभाव है।"[1] "जब यह उनमग्न (अर्थप्रकाशक, ग्राह्य ग्राहकरूप) स्वरूप नहीं प्रकाशित होता है तो उस समय यह संवित् (ग्राहक) अपने स्वात्मा में ही डूबे रहकर समस्त अर्थराशि (भाव, पदार्थ, प्रमेय, ग्राह्य) को भी स्वयं में लीन रखती है।"[2] इसी स्वरूपलीन ग्राह्यात्मक भावराशि में से जब किसी एक भिन्नाकार को स्वात्मा में (ग्राहक भाव) स्वीकार करके (मानसिक संकल्प करके) किसी निश्चितार्थ का स्वरूप प्रकाशित करती है तो तभी वह ज्ञानशक्ति कहलाती है।[3]

(ख) स्मृतिशक्तिः–

इसी ज्ञानशक्ति के द्वारा जब किसी विषय का आभास (ज्ञान, अनुभव) पूर्वकाल में ग्रहण किया जाता है और उस समय जो बहिर्मुखी संवेदन होता है उसी में अन्तर्मुख चित्स्वरूप (ग्राहकस्वरूप) में जो कुछ काल स्थिति बनी रहती है व पुनः कालान्तर में उसी का बहिर्मुखीभाव से जब परामर्श किया जाता है तो वह शक्ति ही स्मृतिशक्ति कहलाती है।[4]

(ग) अपोहन शक्तिः–

जो भी पदार्थ या विषय प्रकाशित होता है, वह संवित् (ग्राहक) से पृथक् ही होता या कहलाता है[5] और संवित् भी उस विषय (ग्राह्य) से पृथक् कहलाती है अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान यह त्रिपुटी ही साधारण विषयावभास का मूल होती है। इसमें ज्ञाता व ज्ञेय कोटिद्वय होते हैं या दो

---

1. एवमपि सततमेव उन्मग्ने निमग्ने वा विश्वात्मना प्रकाशेत, तथास्वभावत्वात्। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60
2. न चैवम्, अतः स्वरूपान्तर्ब्रुडितम् अर्थराशिम्। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60
3. अर्थराशिम् अपरमपि भिन्नाकारम् आत्मनि परिग्रह्य, कंचिदेवार्थं स्वरूपात् उन्मानम् आभासयति–इति आपतितम्। सैषा ज्ञानशक्तिः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60
4. तेन क्वचित् आभासे गृहीतपूर्वे यत् संवेदनं बहिर्मुखम् अभूत, तस्य यत् अन्तर्मुखं चित्स्वरूपत्वं तत् कालान्तरेऽपि अवस्थास्नु स्वात्मगतं तद्विषयविशेषे बहिर्मुखत्वं परामृशति–इति एषा स्मृतिशक्तिः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 60
5. यत् किल तत् आभास्यते तत् संविदो विच्छिद्यते, संविच्च ततः।
—ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61

ध्रुव ही सिद्ध होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाए तो विश्व के सभी व्यवहारों का ही लोप हो जाएगा।

अतः संवित् ग्राहक व ग्रहणरूपिणी होकर ही ज्ञेय का अवभासन करने में समर्थ होती है। इसीलिए ग्रहण या वेदन का अन्तर्भाव भी ग्राहक में ही कर लिया जाता है, क्योंकि वही ग्रहण का मूल होता है। इस ज्ञाता–ज्ञेय की त्रिपुटी में द्वितीय भेद भी विद्यामान् रहता है। अर्थात् "एक विषय की संवित् दूसरे विषय की संवित् से तथा एक विषय दूसरे विषय से भी भिन्न–भिन्न ही सिद्ध होते हैं।[1]

इस लौकिक प्रक्रिया में यद्यपि वास्तव में विच्छेद नहीं होता तदपि विच्छेद का अवभासमात्र तो कहा ही जाता है उपस्थित ही रहता है।[2] इस विभिन्न अवभासमात्र को भी हम अपारमार्थिक (असत्य) नहीं कह सकते क्योंकि जो कुछ भी निर्मीयमाण पदार्थ होते हैं उन सबका यही (अवभास, विच्छेदन आभास भेदाभास) पारमार्थिक (वास्तविक) सत्य भी होता है।[3] इस विच्छिन्नावभास को ही चारों ओर (देशकालादि) परिच्छिन्न करने के कारण है, कहा जाता है। इसी परिच्छेदन को प्रकाशित करने की शक्ति को आगमशास्त्रों में अपोहनशक्ति कहा जाता है।"[4]

इन्हीं तीनों (ज्ञान, स्मृति, अपोहन) शक्तियों के द्वारा समस्त संसार के व्यवहार सिद्ध होते हैं।[5] "यद्यपि विषयों की स्थिति प्राण, शरीर, नीलादि पदार्थों में निरुद्ध होने से जीवात्मा में ही स्थित देखी जाती है।[6] अर्थात् पशु प्रमाता या मायाप्रमाता के रूप में ही संसार में प्राणादि पदार्थों का अनुभव भिन्न–भिन्न रूपों में जीवात्मा ही करता है तदपि "वह समस्त परिच्छिन्न

---

1. संविच्च संविदन्तरात् संवेद्यं च संवेद्यान्तरात्। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61
2. न च विच्छेदनं वस्तुतः संभवति, इति विच्छेदनस्य अवभासमात्रमुच्यते। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61
3. न च तत् इयता अपारमार्थिकम्, निर्मीयमाणस्य सर्वस्य अयमेव परमार्थोः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61
4. एष एव परितश्छेदनात् परिच्छेद उच्यते, तदवभासनसामर्थ्यम् अपोहनशक्तिः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61
5. अनेन शक्तित्रयेण विश्वे व्यवहाराः। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61
6. यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते जीवे निरुद्धा। —ई॰प्र॰का॰, 1/3/7, पृ॰ 61

अनुभव भी परमेश्वर की अपोहनशक्ति शक्ति के कारण उत्पन्न होने से परमात्मा में ही स्वाभाविक रूप से सिद्ध होते है।[1]

इसलिए "इन ज्ञानादि तीनों शक्तियों का ही अनन्तप्रकार का जोविचित्र विकल्प होता है, जो इस संसाररूप में फैलता है, वह परमेश्वर का सामर्थ्य या स्वातन्त्र्य भी कहलाता है।[2]

इसी हेतु से "एकमात्रर्निमत जड़भाव की विलक्षणता से ज्ञानादिशक्तियों से युक्त रहना ही माहेश्वर्य होता है, जब तक इसे स्वीकार न कर लिया जाए तब तक तो इस संसार का भी प्रकाश संभव नहीं हो सकेगा।[3]

परन्तु "हम देखते हैं कि संसार भासित होता है, अतः माहेश्वर्य की सत्ता भी अवश्य ही स्वीकार कर लेनी चाहिए।"[4]

आगमशास्त्रों में 'यद्' 'अहमात्मक' मूलविमर्श शुद्ध व मायीय इन दो भेदों वाला कहा गया है।[5] इनमें "शुद्धविमर्श" (ज्ञान, विद्या) संवित् मात्र स्वरूप में विश्वाभिन्नरूप से अथवा विश्व की छाया से युक्त स्वच्छात्मा के रूप में प्रकट होता है।[6]

"अशुद्धविमर्श (मायीय) वेद्य (ज्ञेय, विषय, प्रमेय) के रूपों में शरीरादि में दृष्टिगोचर होता है।"[7]

"इस शुद्ध विमर्श (ज्ञान, विद्या) में कोई भी प्रतियोगी पदार्थ हटाने के योग्य नहीं होता। क्योंकि घटादि पदार्थ भी प्रकाशात्मक सार होने से

---

1. तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता। —ई॰प्र॰का॰, पृ॰ 62
2. एवासां च ज्ञानादिशक्तीनाम् असंख्यप्रकारो वैचित्र्यविकल्पः इति तत्सामर्थ्यं स्वातन्त्र्यम्। —ई॰प्र॰का॰, पृ॰ 62
3. तत एव च परिनिष्ठितैकरूपजडभाववैलक्षण्यात् ज्ञानादिशक्तियुक्तता माहेश्वर्यम् उपसंप्राप्तः। एतदनुपगमे न किंचित् इदं भासेत-इति प्रसङ्ग।
—ई॰प्र॰का॰, पृ॰ 62
4. भासते तु, तस्मात् एतत् अवश्यम् अङ्गीकर्त्तव्यम्। —ई॰प्र॰का॰, पृ॰ 62
5. अहमित्यवमर्शो द्विधा शुद्धो मायीयश्च। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128
6. तत्र शुद्धो यः संविन्मात्रे विश्वाभिन्ने विश्वच्छायाच्श्रुरितस्वच्छात्मनि वा।
—ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128
7. अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128

अप्रतियोगी व अनपोह्य (न हटाए जाने वाले) हो जाते हैं।[1] इस प्रकार से "किसी भी पदार्थ का निषेध न किए जाने से ही शुद्धविमर्श (ज्ञान विद्या) में विकल्परूपता का सदैव अभाव ही रहता है।[2]

परन्तु "यही शुद्धविमर्शयुक्त चिदात्मा जब संविन्मात्र रूप को त्यागकर सत्तारूप से होते हुए भी उसे (सत्ता) अप्रधान करके शरीरादि भिन्न पदार्थों में (प्रमेयों) में 'यह स्थूल देह मैं ही हूँ' ऐसा अभिप्राय करने लगना है तो वही अशुद्धविमर्श विकल्प कहलाता है।"[3]

"यहाँ शुद्धप्रकाशरूप (पूर्णहमात्मकरूप) का अपहस्तन (निषेध) ही देहादि (प्रमेय) पदार्थों के भेद का मूल कारण होता है।[4] "पुनरपि अनुभव व अनुसंधान के भेद से भी यह द्विविध अहंविमर्श दो भेदों वाला हो जाता है।"[5]

इनमें "शुद्धविमर्श जब शिवात्मा में होता है तो 'अहम्' इस रूप में ही अनुभवात्मा बनकर अवभासित होता है।[6] तथा "जब सदाशिवरूप में अवतरित होता है तो 'अहमिदम्' रूप हो जाता है।[7] यही अनुसन्धानात्मक रूप होता है। इसी प्रकार "अशुद्धविमर्श भी जब मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ इस रूप में अनुभवात्मा बनकर "अशुद्धविकमर्श भी जब मैं स्थूल हूँ था वही मैं कृश हूँ इस रूप में बनकर प्रकट होता है[8] तथा "जब 'जा मैं स्थूल था वही मैं कृश हूँ इस रूप में अनुसंधानात्मा बनकर भी प्रकट होता है।[1] इस

---

1. तत्र शुद्धेऽहंप्रत्यवमर्शे प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः संभवति-
घटादेरपि प्रकाशसारत्वेनाप्रतियोगित्वेनानपोह्यत्वात्। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128
2. इत्यपोह्यत्वाभावे कथं तत्र विकल्परूपता। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128
3. चित्तत्त्वं प्रकाशमात्ररूपं हित्वा सदप्यपहस्तनया अप्रधानीकृत्य भिन्ने देहादौ अहमेव देहादिः नीलादौ प्रमेये प्रमाता-इत्यभिमानेन योऽहं स्थूलो इत्यादिविमर्शः स विकल्प एव। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128
4. शुद्धकाशरूपस्य अपहस्तनमेव देहादेर्भेदे हेतुः। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 128
5. द्विधोऽपि चायम् अहंप्रत्ययो द्विधा
अनुभवमात्ररूपश्चानुसंधानात्मा च। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/6, पृ॰ 132
6. शिवात्मनि अहमिति। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/6, पृ॰ 132
7. सदाशिवात्मनि अहमिदमिति शुद्धो द्विधा। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/6, पृ॰ 132
8. अशुद्धोऽपि अहं स्थूल इति। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/6, पृ॰ 132

प्रकार से अहंविमर्श के इन शुद्ध व अशुद्ध अनुभव व अनुसंधान रूपों परिणाम से ही अहंविमर्श के इन शुद्ध व अशुद्ध अनुभव व अनुसंधान रूपों परिणाम से ही विमर्शशक्ति (ज्ञान विद्या) अपना प्रकाशन करते हुए अपोहन शक्ति का स्वरूप प्रकट करती है।

"इन विमर्श के उक्त भेदोपभेदों में केवल अनुसंधानात्मिका भूमियों में ही विद्याशक्ति (ज्ञानशक्ति) की अधिकता का प्रकाशन विद्युत की चमक की तरह अल्पकालिक रूप में होता है, इसीलिए आगमाचार्यों ने परमपद का परिशीलन करने के लिए इस अनुसंधान को प्राथमिककल्प उपाय के रूप में भी स्वीकार किया हैं।[2]

इसी अनुसंधान के बल से ही सिद्ध होता है कि "स्मरण, अपाहन, विकल्प तथा अनुभव ज्ञानादि स्थितियों में जो प्रकाशाविश्रान्त चिदात्मा का आन्तरिक आभास (ज्ञान) होता है, वह सदा स्थित ही होता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं करना चाहिए।[3]

क्योंकि "परमार्थ (वास्तविक चिदात्मा, चैतन्य) प्रकाश सबकुछ सहन करने वाला होता है और यह समस्त विश्व भी उसी में अन्तर्लीन बना रहता है। यह सब अनायास ही सिद्ध हो जाता है।"[4]

इस प्रकार से ज्ञान का स्वरूप आगमशास्त्रों में अनेक भंगिमाओं से अहंविमर्शात्मक ही शुद्धसंविन्मय सिद्ध होता है और यह परमेश्वर की इच्छा-ज्ञान व क्रिया शक्तियों के सहयोग से भी अनेकत्र प्रतिपादित किया जाता है। इनमें इच्छा शक्ति तो परम सूक्ष्म रूप में बनी रहती है और आगमों में उसे केवल परम सूक्ष्म रूप में बनी रहती है और आगमों में

1. योऽहं स्थूलोऽभवं, सोऽहं कृशो.....इति अशुद्धो द्विविधः।

—ई॰प्र॰का॰, 1/6/6, पृ॰ 132

2. एतासु अनुसंधानभूमिषू विद्याशक्तिराधिक्येन अचिरद्युतिवदुद्दीप्यते इति तासां परपदपरिशीलद — न प्रथमकल्पाभ्युपायत्वमभ्युपागमन् गुरवः।

—ई॰प्र॰का॰, 1/6/4, पृ॰ 133

3. स्मरणे, अपोहनजीविते च विकल्पे, अनुभज्ञाने च अन्तराभासः प्रकाशविश्रान्तः स्थिति एव, नात्र संशयः कश्चित्। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/6, पृ॰ 136

4. परमार्थप्रकाशस्तु सर्वसहः इति तत्रान्तर्वश्वम्, इति अनायाससिद्धमेतत्।

—ई॰प्र॰का॰, 1/6/8, पृ॰ 136

उसे केवल शक्तितत्त्व के रूप में हो कथित किया जाता है, परन्तु ज्ञान व क्रिया शक्तिद्वत तो प्रायः इच्छाशक्ति की अपेक्षा अधिक स्फुट ही देखें जाते हैं "ये दोनों (ज्ञान, क्रिया) शक्तियाँ परमेश्वर में आदिसिद्ध स्वीकार की जाती हैं।"[1] क्योंकि 'जड़पदार्थों की प्रतिष्ठा चेतन (जीवित) पदार्थों के अधीन ही देखी जाती है तथा जीवित (चेतन) प्राणियों की प्रतिष्ठा (जीवन) भी ज्ञान व क्रिया शक्तियों के अधीन ही होता है।[2] इन देनों (ज्ञान) व क्रिया) में "ज्ञान तो स्वतः सिद्ध ही देखा जाता है तथा क्रिया शरीरादि के द्वारा प्रकट होती हुई देखी जाती है।[3] इसलिए "सभी प्राणियों (जीवों) में ज्ञान व क्रिया प्रत्यक्ष ही सिद्ध देखे जाते हैं।[4] सभी विश्व के पदार्थों या प्राणियों में इन दोनों (ज्ञान, क्रिया) की सत्ता की सिद्धि का मूलकारण भी "परमेश्वर का विमर्श ही सिद्ध होता है। वही शुद्धविमर्श (ज्ञान, विद्या) शुद्धज्ञान व शुद्धक्रिया के रूप में संसार में प्रकाशित होता है।[5]

"इस विमर्श की परावस्था ही ज्ञान वर क्रिया होती है।[6] "परापरावस्था सदाशिवभूमि होती है जिसमें अहमिदम् का बोध होता है।[7] तथा "अपरावस्था में इदंभाव की प्रधानता होने से मायादशा हो जाती है।[8] इसलिए "प्रत्येक दशा में विमर्श (पर्णाहस्वभाव, विद्या) ही ज्ञान होता है, क्योंकि उसके बिना विमर्श भी जड़ वस्तु ही हो जाएगा।[1] "वही ज्ञान अपने

---

1. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे। —ई॰प्र॰का॰, 1/1/2, पृ॰ 19
2. तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
   ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/1/4, पृ॰ 24
3. तत्र ज्ञानं स्वतः सिद्धं क्रिया कायाश्रिता सती। —ई॰प्र॰का॰, 1/1/5, पृ॰ 27
4. ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः। —ई॰प्र॰का॰, 1/6/11, पृ॰ 139
5. स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः।
   विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः॥ —ई॰प्र॰का॰, 1/8/11, पृ॰ 168
6. विमर्श एव परावस्थायां ज्ञानक्रिये। —ई॰प्र॰का॰, 1/8/11, पृ॰ 169
7. परापरावस्थायां तु भगवत्सदाशिवभुवि इदन्तासामाना-
   धिकरण्यादहंताविमर्शस्वभावे। —ई॰प्र॰का॰, 1/8/11, पृ॰ 169
8. अपरावसीयां च मायापदे इदं भावप्राधान्येन वर्तमाने इति विशेष्ज्ञः।
   —ई॰प्र॰का॰, 1/8/11, पृ॰ 169

परिणाम में क्रिया भी बन जाता है।[2] आचार्य सोमानन्दपाद का शिवदृष्टि में भी यही कथन है कि "वह चिदात्मा ही अपने आनन्द से सभी भावों में स्फुरित होते हुए अपनी अनिरुद्ध इच्छा के रूप में प्रसार करते हुए ज्ञान व क्रिया भी बन जाता है।[3] परत्रिंशिका विवरणकारानुसार भी "वह अनुत्तरशिव ही स्वातन्त्र्यसार रूपी शक्ति से अकालकलित क्रियाशक्तिरूपी शरीर वाला होता है।[4]

"इच्छाशक्ति ही भाविज्ञानशक्ति को स्वरूपग्रहण करती हुई ईशनरूपा 'ई' वर्षा में प्रकार होती है।[5] तथा सुस्फुटरूप में फैली हुई ज्ञानशक्ति ही 'ऊ' इस वर्ण से प्रकाशित होती है।[6] "ये दोनों ही परमभैरव की शक्तियाँ होती हैं।[7] इनमें "इच्छाशक्ति कलनात्मिका होने से महासृष्टि भी कही जाती है।[8] तथा "ज्ञानशक्ति महासंहारशक्ति कही जाती है।[9] इसी प्रकार से विकासक्रम में "इच्छाशक्ति व ज्ञानशक्ति व ज्ञानशक्ति ही परस्पर के स्वरूप की संकरना (मिश्रण, मेल, संयोग) से विचित्र चमत्कारमय, पूर्वारूपी स्वरूप को ग्रहण करती हुई संरम्भसार (वेग युक्त हर्ष) वाली क्रियाशक्ति बन जाती है।[10]

अतः काश्मीर शैवागम में ज्ञान को ही विमर्श, ज्ञानशक्ति आदि

---

1. सर्वथा तु विमर्श एव ज्ञानं, तेन विना हि
   जडभावोऽस्य स्यात् इति उक्तम्। —ई॰प्र॰का॰, पृ॰ 169
2. स एव च क्रिया। —ई॰प्र॰का॰, 1/8/11, पृ॰ 169
3. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
   अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥ —शि॰दृ॰, 1/2
4. एवं स्वातन्त्र्यसारअकालकलित-
   क्रियाशक्तिशरीरम् अनुत्तरम्। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 48
5. इच्छैव भाविज्ञानशक्त्यात्मकस्वातन्त्रेण
   जिघृक्षन्ती ईशनरूपा 'ई' इति। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 276
6. सुस्फुटा प्रसृता ज्ञानशक्तिः 'ऊँ' इति। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 277
7. एते परेश्वरस्य भैरवस्य द्वे शक्ती। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 277
8. इच्छाख्या कलना, महासृष्टिव्यपदेश्या। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 277
9. महासंहारशक्तिः ज्ञानाख्या। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 279
10. इच्छाजाने एव परस्परसवरूपसाङ्कर्यवैचित्र्यचमत्कार-
    मयपूर्वापरीभूतस्वरूपपरिग्रह संरम्भ सारा क्रिया। —प॰त्रिं॰वि॰, पृ॰ 283

के रूप में परिभाषित किया गया है।

"ज्ञान व क्रिया शिवप्रमाता के ही अलग न रहने वाले धर्म होते हैं।[1] "ज्ञानरूपी शरीर वाले प्रमाता का धर्म ही, जोकि काल व क्रम का आक्षेप कराती है, वही क्रिया कही जाती है।[2] "ज्ञान ही विमर्श से अनुप्राणित होता है तथा वही क्रिया भी बनती है।[3] क्योंकि "ज्ञानशक्ति विहीन का क्रियायोग भी कदापि सिद्ध नहीं होता।[4]

"इन परमेश्वर की ज्ञान वे क्रिया शक्तियों का परिणाम ही सत-स-तम के रूप में भी हो जाता है।[5]

इसलिए आचार्य उत्पलदेव ने इन दोनो (ज्ञान, क्रिया) शक्तियों के जानने के फल के विषय में स्पष्ट कथन किया है कि "जो मनुष्य इन दोनों शक्तियों के (ज्ञान, क्रिया) को भली प्रकार से, परमात्मा के स्वातन्त्र्य रूप से तथा अपनी ही आत्मा से अपृथक् रूप में, जान लेता है, वह यथेष्ट रूप में ही इन दोनों शक्तियों का प्रयोग करता है।[6]

अतः काश्मीर शैवागम में ज्ञान का सुफल भी इन्हीं दोनों (ज्ञान, क्रिया) शक्तियों को भली प्रकार जानकर उन्हें व्यावहारिक प्रयोग में लाना भी सिद्ध किया गया है। क्योंकि प्रयोजनों के बिना तो किसी मूढ़ की भी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए इस 'ज्ञान' का प्रयोजन भी मनुष्य को अपनी ज्ञान व क्रिया शक्तियों का सम्यक् अवगम व उनका प्रयोग सीख लेना ही मुख्य होता है। शेष तो अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, जैसे नाम या ख्याति आदि।

इसी अभिप्राय को शिवसूत्र भी अपने तीन उपायों द्वारा भी प्रस्तुत

---

1. मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी। —ई॰प्र॰वि॰, 3/1/1, पृ॰ 263
2. ज्ञानं विमर्शानुप्राणितं, विमर्श एव च क्रियेति। —ई॰प्र॰वि॰, 3/1/1, पृ॰ 264
3. न च ज्ञानशक्तिविहीनस्य क्रियायोगः। —ई॰प्र॰वि॰, 3/1/1, पृ॰ 264
4. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया य या।
   मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः॥ —ई॰प्र॰वि॰, 4/1/4, पृ॰ 303
5. एवमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा।
   जानन्यथेप्सितान्पश्यञ्जानाति च करोति च॥ —ई॰प्र॰वि॰, 4/1/15, पृ॰ 312
6. जन उन्नीषति तम् साधु कर्म कारयति तम् असाधुकर्म कारयति।

करते हैं। क्योंकि शिवसूत्रों का भी एकमात्र प्रयोजन 'रहस्यसम्प्रदाय' की रक्षा करना रहा है। यह रहस्य भी स्वात्म स्वरूप का निर्गुण अद्वैतरूप में साक्षात्कार कर लेना ही होता है। उसी विद्यात्मक परम्परा की रक्षा करने से ही विद्या का प्रसार होता है। ये तीनों उपाय भी क्रमशः इच्छा-ज्ञान व क्रिया शक्तियों से ही मूलतः सम्बन्ध रखते हैं तथा इन्हीं शक्तियों के सम्यक् प्रबोधन के द्वारा मनुष्यों के ज्ञान (विद्या) के चरमफल, स्वात्मानुभूति के प्राप्ति भी निश्चितरूप से कराते हैं।

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान और अज्ञान विषक ज्ञान की प्रासंगिकता ज्ञातव्य है। जैसा कि निष्कर्ष के रूप में स्पष्ट है कि ज्ञान और अज्ञान दोनों परमेश्वर की इच्छा शक्ति के ही विकास है। जैसा कि वेद में कहा गया है जिसको उपर उठाना होता है अर्थात् जिस जीव अध्यात्मिक क्षेत्र में विकास करना होता है उसे शुभकर्म करने की प्रेरणा देते है एवं स्वात्मस्वरूप का ज्ञान प्रदान करते है। परन्तु जिस जीव का अधोपतन अभिप्रेत होता है, उससे अशुभकर्म करवाते हैं। तथा उसे शरीरादि के प्रति अहत्व ममत्व दृढ करा देते है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि दो प्रकार की ही ज्ञान होती है। अज्ञान और ज्ञान (सद्विद्या)। (सद्विद्या)। अज्ञान के अन्तर्गत सम्पूर्ण सांसारिक सभी प्रकार का भौतिक ज्ञान आता है। जब कि ज्ञान के अन्तर्गत आत्मा परमात्मा का ज्ञान आता है। जीव यात्रा के लिए अथवा सांसारिक व्यावहार के लिए अज्ञान के ज्ञान की प्रांसगिकता युक्ति युक्त है। क्योंकि उसके बिना किसान सफल कृषि कार्य नहीं कर पायेगा अध्यापक पढ़ा नहीं पायेग गृहिणी रसोई नहीं बना पायेगी व्यापारी व्यापार नहीं कर पायेगा अर्थात् ऐसा कोई भी कार्यक्षेत्र नहीं है जिसमें उसको सफलतापूर्वक निश्पादित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं।

अतः अज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही है जिसको काश्मीर शैवदर्शन संकुचित ज्ञान कहा है और यह सांसारिकता में पारंगतता प्रदान करता है। इसको आदि गुरुशंकराचार्य जी ने प्रेय अथवा प्रवृति मार्ग भी कहा है। इसी को शास्त्रों में संसारमार्ग भी कहते हैं। दूसरी ओर ज्ञान को भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी विद्याओं में से श्रेष्ठ कहा है।[1] काश्मीर

शैवदर्शन में इसको शिव मार्ग अथवा शक्ति मार्ग या संवित् मार्ग कहा गया है। इसी को शंकराचार्य जी ने श्रेय मार्ग अथवा निवृत्ति मार्ग कहा है। इसके अनुसरण से जीव आवागमन के चक्र से मुक्त होकर एवं दैहिक दैविक भौतिक दुःखों से निवृत्त होकर आत्मा परमेश्वर कि प्राप्ति कर परमानंद का अनुभव करता है अतः जीव के लिए सांसारिक व्यावहारिक के लिए तो अज्ञान और परमार्थ लक्ष्य कि प्राप्ति के लिए विद्या के ज्ञान की अति आवश्यकता है।

1. अध्यात्म विद्या विद्यानां, भ॰गी॰

सहायक ग्रन्थ–सूची

क्रमांक	ग्रन्थ के नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अथर्ववेद	सं. पाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल पारडी नगर, वलसाड़, प्रदेश गुजरात	1918
2.	अथर्ववेद संहिता	सं. पाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल पारडी नगर, वलसाड़, प्रदेश गुजरात	1937
3.	अद्वैत वेदान्त में मायावाद	शशिकान्त पाण्डेय	विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली	2005
4.	अविद्या विमर्श	नारायण आचार्य	प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली	1995
5.	अग्निपुराण	हनुमान प्रसाद पोद्दार, व्याख्याता	गीता प्रैस, गोरखपुर	1970
6.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा–कारिका	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1971
7.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा भाष्य	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1930
8.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा भाष्य	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1930
9.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सांख्यकारिका	डॉ. जगीर सिंह	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, अमर आर्ट प्रैस, मोती बाज़ार, जम्मू	2000
10.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1920
11.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921

12.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
13.	उत्पलदेव का काश्मीर शैवदर्शन को योगदान	डॉ. जगीर सिंह	शोध प्रबन्ध संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय	1985
14.	ऋग्वेद	पं. पाद दामोदर सातवलेकर (सं.)	स्वाध्याय मण्डल पारडी नगर, वलसाड़, गुजरात	1990
15.	ऋग्वेद	पं. पाद दामोदर सातवलेकर (सं.)	स्वाध्याय मण्डल पारडी नगर, वलसाड़, गुजरात	1940
16.	ऐतरेयोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीता प्रैस, गोरखपुर	1948
17.	कबीर साखी सार	श्री तारक नाथ एवं रामवाशिष्ट	विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा	1958
18.	काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी	डॉ. भंवर लाल जोशी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी	1968
19.	काश्मीर शैवदर्शन	डॉ. वी.एन. पण्डित	श्री र.सं. विद्यापीठ, जम्मू	1973
20.	कठोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीता प्रैस, गोरखपुर	
21.	केनोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीता प्रैस, गोरखपुर	1969
22.	छान्दोग्योपनिषद्	श्री राघवेन्द्र तीर्थ	पूर्णप्रज्ञसंशोधानमन्दिरम् पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम्, कत्तारिपुप्पा मेन रोड, बेंगलूरु	2004
23.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	
24.	तन्त्रलोक	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1963
25.	तन्त्रालोक विवेक	जयरथ	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1938

26.	तन्त्रालोक भाष्य	वी.एसं. पण्डित	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1941
27.	तन्त्रालोक टीका	श्री लक्ष्मण जी	अनुसन्धान विभाग जम्मू काश्मीर, श्रीनगर	1940
28.	तत्त्व सन्दोह	क्षेमराज	अनुसन्धान विभाग जम्मू काश्मीर, श्रीनगर	1935
29.	तैत्तरीयोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
30.	तैत्तिरीयोपनिषद्	शांकर भाष्य	गीता प्रैस, गोरखपुर	2040
31.	धर्मशास्त्र विचार–धारा काआधार	डॉ. सूक्ष्म	डिवाइन पब्लिकेशन्स जी. 13, सरस्वती विहार, दिल्ली	2005
32.	धर्मदर्शन संस्कृति	रूप किशोर शास्त्री	74, त/ण एनक्लेव पीतमपुरा, दिल्ली–34	2005
33.	न्यायभाष्य	वात्स्यान	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1964
34.	न्याय मञ्जरी	जयन्त भट्ट	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1965
35.	न्याय सूत्र	अक्षपाद गौतम	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली.	1970
36.	न्याय दर्शन का चतुष्टय	अभेदानन्द भट्टाचार्य	परिमल पब्लिकेशन 24/28, शान्तिनगर, दिल्ली	1996
37.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1984
38.	परमाथसारकारिका	अभिनवगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1985
39.	पञ्चदशी	विद्यारण्यमुनी (व्याख्याकार पं. रामावतार विद्याभास्कर)	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली	2005

संकेत सूची

1. अ॰वे॰ — अथर्ववेद
2. अ॰पु॰ — अग्निपुराण
3. अ॰का॰ — अरण्यकाण्ड
4. अ॰यो॰ — अयोध्याकाण्ड
5. अमन॰यो॰ — अमनस्क योग
6. ई॰प्र॰का॰पृ॰ — ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका पृष्ठ
7. ई॰प्र॰ — ईश्वर प्रत्यभिज्ञा
8. ई॰प्र॰वि॰वि॰ — ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी
9. ई॰प्र॰भा॰ — ईश्वर प्रत्यभिज्ञाभाष्य
10. ई॰प्र॰वि॰ — ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
11. ई॰प्र॰का॰वृ॰पृ॰ — ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका वृत्ति पृष्ठ
12. ई॰वा॰उप॰ — ईशावास्योपनिषद्
13. उ॰का॰ — उत्तरकाण्ड
14. ऐ॰उप॰ — ऐतरयोपनिषद्
15. ऋ॰वे॰ — ऋग्वेद
16. क॰ग्र॰अ॰दो॰ — कबीर ग्रन्थावली अध्याय दोहा
17. क॰स॰सा॰ — कबीर साखी सार अध्याय
18. क॰उप॰ — कठोपनिषद्
19. के॰उप॰ — केनोपनिषद्
20. को॰ब्रा॰ — कौषीतिकि ब्राह्मण
21. कु॰स॰पृ॰ — कुन्दकुन्दाचार्य समधसार पृष्ठ
22. ग॰पु॰ — गरुड़ पुराण
23. ग॰पु॰अ॰ — गरुड़ पुराण अध्याय
24. छा॰उप॰ — छान्दोग्योपनिषद्
25. त॰स॰पृ॰ — तन्त्रसार पृष्ठ
26. त॰सा॰भा॰ — तन्त्रसार भाष्य
27. त॰आ॰वि॰ — तन्त्रालोक विमर्शिनी

28.	ता०आ०वि०	— तन्त्रालोक विमर्शिनी
29.	त०सू०	— तत्वार्थसूत्र
30.	तै०उप०	— तैत्तिरीयोपनिषद्
31.	न०भा०गु०ना०दे०अ०	— नव भारती गुरु नानक देव अध्याय
32.	ना०स्मृ०	— नारस्मृति
33.	न्या०सू०	— न्यायसूत्र
34.	न्या०भा०	— न्याय भाष्य
35.	न्या०मी०दि०अ०	— न्याय मीमांसा द्वितीय अध्याय पृष्ठ
36.	न्या०म०	— न्याय मञ्जरी
37.	प०द०	— पञ्चदशी
38.	परा०प्रा०	— पराप्रावेशिका
39.	पा०यो०सू०	— पातञ्जल योग सूत्र
40.	प्र०हृ०पृ०	— प्रत्यभिज्ञाहृयम् पृष्ठ
41.	प्र०हृ०का०	— प्रत्यभिज्ञाहृदयम् कारिका
42.	प्र०हृ०सू०	— प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र
43.	पृ०स०	— पृष्ठ संख्या
44.	प्र०उप०	— प्रश्नोपनिषद्
45.	प०पु०	— परलोक और पुनर्जन्माङ्क
46.	प०पु०वै०	— परलोक पुनर्जन्म एवं वैराग्य
47.	ब०सू०शां०भा०, भा०व्या०	— ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य भामति व्याख्या
48.	ब्र०सू०शां०भा०	— ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
49.	ब्र०सू०	— ब्रह्मसूत्र
50.	ब्र०पु०अ०	— ब्रह्मपुराण अध्याय
51.	वृहद०उप०	— वृहदारण्यकोपनिषद्
52.	बो०प०	— बोधपञ्चदशिका
53.	बा०रा०अ०का०स०दो०	— बाल रामायण अरण्यकाण्ड संख्या दोहा
54.	बा०का०	— बालकाण्ड
55.	या०स्मृ०	— याज्ञवल्क्यस्मृति

संकेत सूची

56. वा॰पु॰ — वायुपुराण
57. वा॰स्मृ॰ — व़ासिष्ठस्मृति
58. वि॰चू॰ — विवेक चूड़ामणि
59. वि॰भै॰ — विज्ञान भैरव
60. वि॰भै॰वि॰ — विज्ञान भैरव विवृत्ति
61. वि॰पु॰ — विष्णुपुराण
62. वे॰स॰सू॰भा॰ — वेदान्तसार सूत्र भाष्य
63. वे॰सा॰ — वेदान्तसार
64. वे॰सा॰सू॰सं॰ — वेदान्तसार सूत्र सांख्य
65. वौ॰प॰ — वौध पञ्चदशिका
66. व्य॰स्मृ॰ — व्यासस्मृति
67. वृ॰सू॰ — वृहस्पति सूत्र
68. व्या॰भा॰ — व्यास भाष्य
69. व्या॰स्मृ॰ — व्यास स्मृति
70. भ॰गी॰ — भगवद् गीता
71. भा॰द्द॰पृ॰स॰ — भारतीय दर्शन पृष्ठ संख्या
72. भा॰पु॰स्क॰तृ॰अ॰ — भागवद् पुराण स्कन्द तृतीया अध्याय
73. भा॰पु॰ — भागवद् पुराण
74. भै॰स्तो॰ — भैरवस्तोत्र
75. म॰वि॰वा॰ — मालिनी विजय वार्तिक
76. मनु॰ — मनुस्मृति
77. म॰भा॰ — महीधर भाष्य
78. मा॰स्मृ॰ — मार्कण्डेयस्मृति
79. महा॰मो॰प॰ — महाभारत मोक्षपर्व
80. मुण्ड॰उप॰ — मुण्डकोपनिषद्
81. मा॰उप॰ — मुण्डकोपनिषद्
82. मा॰वि॰ — मालिनी विजय
83. मा॰वि॰वा॰ — मालिनी विजय वार्तिक
84. म॰पु॰ — मत्स्य पुराण

संकेत सूची

85.	महा॰व॰प॰	—	महाभारत वन पर्व
86.	या॰स्मृ॰	—	याज्ञवल्यस्मृति
87.	यो॰वा॰	—	योगवासिष्ठ
88.	यजु॰वे॰	—	यजुर्वेद
89.	यो॰सू॰	—	योगसूत्र
90.	यो॰सू॰व्या॰भा॰	—	योगसूत्र व्यास भाष्य
91.	यो॰सू॰व्या॰भा॰द॰	—	योगसूत्र व्याख्या भारतीय दर्शन
92.	रा॰च॰मा॰	—	रामचरितमानस
93.	रा॰कृ॰ली॰प्र॰दि॰ख॰	—	रामकृष्ण लीला प्रसङ्ग द्वितीय खण्ड
94.	शां॰भा॰गी॰	—	शांकर भाष्य गीता
95.	शि॰पु॰	—	शिव पुराण
96.	शि॰सू॰वि॰पृ॰	—	शिवसूत्र विमर्शिनी पृष्ठ
97.	शि॰स्तो॰	—	शिवस्तोत्रावली
98.	शि॰दृ॰वृ॰पृ॰	—	शिवदृष्टि वृत्ति पृष्ठ
99.	शि॰दृ॰	—	शिवदृष्टि
100.	श्वे॰उप॰	—	श्वेताश्वतरोपनिषद्
101.	षट॰त्रि॰त॰स॰वि॰पृ॰	—	षट्त्रिशतत्वसन्दोह विवेक पृष्ठ
102.	सां॰द॰पृ॰	—	सांख्य दर्शन पृष्ठ
103.	सां॰द॰	—	सांख्य दर्शन
104.	सा॰भा॰	—	सायन भाष्य
105.	शां॰भा॰	—	शांकर भाष्य
106.	सां॰का॰	—	सांख्य कारिका
107.	स॰सि॰सं॰	—	सर्वासिद्धान्त संग्रह
108.	स॰द॰स॰बौ॰द॰पृ॰	—	सर्वदर्शन संग्रह बौद्धदर्शन पृष्ठ
109.	स्प॰का॰	—	स्पन्दकारिका
110.	स्प॰का॰वि॰पृ॰	—	स्पन्दकारिका विवृत्ति पृष्ठ

40.	पातञ्जलयोग सूत्र	पतञ्जलि	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1980
41.	पराप्रावेशिका	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1958
42.	परात्रिंशिका विवरण	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
43.	परलोक और पुनर्जन्माङ्क	सं श्री हनुमान चिम्मनलाल गोस्वामी	गीता प्रैस, गोरखपुर	2058
44.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1978
45.	प्रत्यभिज्ञादर्शन	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्या भवन, दिल्ली	1978
46.	प्रत्यभिज्ञा सूत्र	आचार्य क्षेमराज	चौखम्बा विद्या भवन, दिल्ली	1970
47.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	डॉ. जगीर सिंह	अमर आर्ट प्रैस, मोती बाज़ार, जम्मू	2000
48.	बन्धन और मोक्ष	श्री ओमप्रकाश	रामायण–वेदान्त प्रकाशन, आर्यनगर, कानपुर	1972
49.	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य	श्री वाचस्पति मिश्र	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	2005
50.	ब्रह्मसूत्र	शंकराचार्य	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1975
51.	वृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
52.	विष्णुपुराण	अनु. जगदीश प्रसाद जालान	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी 1982
53.	वेदान्तसार	सदानन्द	अक्षवट प्रकाशन बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद	1999

54.	वेदान्त दर्शन	स्व. स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	गीता प्रैस, गोरखपुर	2042
55.	वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र)	महार्षिवेदव्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर	2052
56.	वैदिक दर्शन	डॉ. कुंवरलाल व्यास	इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली	1980
57.	वैदिक दर्शन	पद्मश्री डॉ. कपिल देव द्विवेदी	विश्व भारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (भदोही)	
58.	वामनपुराण.	अनु. जगदीश प्रसाद जालान	गीता प्रैस, गोरखपुर	1982
59.	भगवद्गीता	वेद व्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर	1982
60.	भगवद्गीता विवृत्ति	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रैस, गोरखपुर	1933
61.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर, वाराणसी	1997
62.	भारतीय दर्शन	डॉ. उमेश मिश्र	हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ	1970
63.	भारतीय दर्शन	डॉ. राधाकृष्ण	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1962
64.	भारतीय दर्शन की	डॉ. राममूर्ति शर्मा	मणिद्वीप वी.एस. शालीमार बाग, दिल्ली	1999
65.	श्रीमद्भागवत पुराण	अनु. ज्वाला प्रसाद	रणवीर प्रकाशन रेलवे हरिद्वार	1995
66.	मनुस्मृति	डॉ. उर्मिला रुस्तगी	जे.पी. पब्लिशिंग हाऊस, 27/28, शान्ति नगर, दिल्ली	2004
67.	मनुस्मृति	अनु. पं. ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी	रणवीर बुक्स सेल्स, हरिद्वार	1962
68.	मालिनीविजय-वार्तिकम्	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921

69.	माण्डुक्योपनिषद्	शांकर भाष्य	गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रैस, गोरखपुर	2042
70.	महाभारत	श्री वेद व्यास (सं. हनुमान प्रसाद पोद्दार)	गीता प्रैस, गोरखपुर	1958
71.	मार्कण्डेयपुराण	अनु. पं. ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी	रणवीर प्रकाशन रेलवे रोड, हरिद्वार	
72.	मुण्डकोपनिषद्	कृष्णदास गोयन्तक	गीता प्रैस, गोरखपुर	1991
73.	याज्ञवतक्यस्मृति	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी	1985
74.	योगवासिष्ठ	वासिष्ठ	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1980
75.	योगसूत्र	पतञ्जलि	चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी	1981
76.	रामचरितमानस	श्री वाल्मीकि	स्वाध्याय मण्डल, पारडी ज़िला सूरत	1950
77.	रामचरितमानस	श्री तुलसीदास	गीता प्रैस, गोरखपुर	
78.	शास्त्र परामर्श	मधुराज योगिन	रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, काश्मीर	1960
79.	शिवदृष्टि वृत्ति	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1924
80.	शिवपुराण		गीता प्रैस, गोरखपुर	
81.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1932
82.	श्वेताश्वतरो-पनिषद्	कृष्णदास गोयन्दक	गीता प्रैस, गोरखपुर	
83.	स्पन्दकारिका विवृत्ति	श्रीरामकण्ठ	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1983

84.	स्पन्द निर्णय	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1983
85.	सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्य	विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी	1974
86.	सांख्य कारिका	ईश्वरकृष्ण	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1974
87.	सांख्य सूत्र	कपिल	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1969
88.	सांख्य प्रवचन	विज्ञानभिक्षु	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1969
89.	सांख्य तत्त्व समास सूत्र	कपिल	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1969
90.	हिन्दी विश्वकोश	नगेन्द्र नाथवसु	बी.आर. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, विवेकानन्द नगर, दिल्ली	

Parameshiva
Shiva - Shakti
Maya
Space
Air
Fire
Water
Earth
Evolutes of Tamas
Evolutes of Rajas